संक्षिप्त बिहारी

(सटीक)



लेखक

श्रीरमाशंकरप्रसाद, एम० ए०, एल-एल० बी०

प्राक्कथन-लेखक

डाक्टर श्रीबेनीप्रसाद, एम० ए०, पी-एच० डी०,
डी० एस-सी० (लंदन)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२९

मूल्य १॥)

निवेदन

काव्यमर्मज्ञ तथा शिक्षित समाज में महाकवि बिहारीलाल का बड़ा ही मान[1] है। रस[2] प्रेमियों के हृदय में उन्होंने अपना अटल स्थान बना रक्खा है। अत पाठकवृन्द की सुविधा के लिए अनेक कवियों और लेखकों ने टीकाएँ और टिप्पणियाँ भी जड़ी हैं, जिससे "सतसई" के पढ़ने और समझने में बड़ी सुगमता होगई है और बहुत सी शिक्षा-समितियों ने विद्यार्थियों के लिए निर्दिष्ट पुस्तकों में इसका भी नाम रख दिया है। अतएव इसका पढ़ाया जाना अनुभवी शिक्षकों ने आवश्यक समझा है। परन्तु अध्यापकों को एक बड़ी कठिनाई पड़ रही है। प्रसिद्ध बात है कि "बिहारी बड़े ही शृंगारी थे" और शृंगार रस के कवियों में इनका पद सर्वोच्च है। स्थान स्थान पर इनके दोहों में ऐसी बातें आ जाती हैं जिनका स्पष्ट रूप से वर्णन करने में बड़ी हिचकिचाहट होती है। कहीं कहीं ऐसे पद लिखे हैं जो अविवाहित पाठकों के लिए दुर्बोध्य है। कतिपय दोहों का पठन

१—कवि ने कहा भी है—

"उदय अस्त लौं अवनि पै, सबको बाढ़ी थाह।
सुनत बिहारीसतसई, सबही करत सराह॥"

२—कवि स्वयं कहता है—

"जो कोऊ रस-रीति को, समुझ्यो चाहै सार।
पढ़ै बिहारीसतसई कविता को शृंगार॥
"विविध नायिका-भेद कर, अलङ्कार वरणीति।
पढ़ै बिहारीसतसई, जानै कविरस रीति"॥

करना बालक बालिकाओं के लिए असामयिक हो जाता है
जिससे उनके आचार विचार पर अस्पृहणीय प्रभाव पड़ने की
अधिक आशंका रहती है। प्रेमिका संबंधी बातें इतनी स्पष्टता से
दिखलाई गई हैं कि उनका पढ़ना अनेक पाठकों को हानिकारक
हो सकता है। ऐसी दशा में यह विचार किया गया कि सतसई
का एक ऐसा संक्षिप्त संस्करण निकालना आवश्यक है जो
विद्यार्थी तथा अन्य पाठक-समाज को शृंगार की अश्लीलता से
दूर रखते हुए भी उनको उसके सुखप्रद और हितकर रस
अथवा बिहारीलाल के भाषा-माधुर्य और काव्य सौंदर्य
आनन्द से वंचित न करे। लेखक का आश्चर्यजनक साह
केवल इसी कारण से लभ्य होने की आशा रखता है।

टीकाकार सबसे पहले श्रीमान् डाक्टर बेनीप्रसाद, रायबहा
लाला सीताराम और श्रीयुत पंडित देवीप्रसाद शुक्ल को कोटि
धन्यवाद देता है जिनकी आज्ञा, सहानुभूति और सहायत
यह संस्करण तैयार हुआ, तत्पश्चात् बंगला के प्रसिद्ध ले
श्रीयुत बाबू ज्ञानेन्द्रमोहनदास को, जिनकी सहायता बिना
पुस्तक अधूरी ही रह जाती, धन्यवाद देना उचित है।
सुकवि श्रीयुत प० गिरिजादत्त शुक्ल (गिरीश) ने इस पुस्त
प्रूफ संशोधन करके टीकाकार को अशेष कृतज्ञ किया है।
बिहारीलाल के आज तक के टीकाकारों तथा समालोच
कृतज्ञ होकर हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों अथ
साहित्य प्रेमियों को बार बार धन्यवाद देता हुआ वर्तमा
इस पुस्तक को विद्यार्थी समाज और अन्य भाषा प्रे
अर्पण करता है।

रमाश

प्राक्कथन

पं० रमाशंकर एम० ए०, एल एल० बी० ने इस ग्रन्थ में विद्यार्थियों और सर्वसाधारण के लिए बिहारी के चुने हुए दोहों की व्याख्या की है। भूमिका में उन्होंने बिहारी के जीवन और काव्य-कौशल के विषय में आवश्यक बातें कह दी हैं। उनको दोहराने की कोई जरूरत नहीं है। पं० रमाशंकरजी ने इस रचना में इतना परिश्रम किया है कि आशा है यह आज कल के हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान ग्रहण करेगी।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कई युग दृष्टिगोचर होते हैं। १५ १६ वीं शताब्दी में कबीर, नानक, रैदास इत्यादि महात्माओं ने एक परमेश्वर की भक्ति का उपदेश दिया, तत्कालीन कुरीतियों का खंडन किया और समाज-सुधार की चेष्टा की। उन्होंने भाषा को वह रूप दिया जो अब तक बना हुआ है। उनके बाद हिन्दी-साहित्य में दो विशेष परिवर्तन हुए। एक तो भक्तिमार्ग का रूप बदल गया। निराकार की उपासना जनता के मन को न भायी। उसके स्थान पर साकार की उपासना का ही उपदेश फिर प्रारम्भ हुआ। एक परमेश्वर का सिद्धान्त भी सर्वसाधारण को अभी ग्राह्य न था। राम या कृष्ण या शिव को परमात्मा मानते हुए भी वह विश्वास करते थे कि और देवी देवता हैं। कबीर के चलाये हुए धार्मिक आन्दोलन का स्थायी साधारण प्रभाव इतना ही पड़ा कि एक देव को मुख्य मान कर उपासना होती थी और शेष देवी-देवता गौण रहते थे। धार्मिक भाव के इस रूप का प्रतिबिम्ब सूरदास, नन्ददास, तुलसीदास आदि महाकवियों में है। भक्ति के आवेश में बहुधा

शृंगार-भाव आ जाता है। तुलसीदास में तो यह बात नहीं है पर योरप, फ़ारस, और हिन्दुस्तान के भक्तों की रचनाएँ प्राय शृंगाररस में डूबी हुई हैं। भक्त अपने देवता से शृंगारी का सा प्रेम करता हैं। उदाहरणार्थ, फारसी के कवि जलालुद्दीन में भक्ति और शृंगार बिलकुल मिल गये हैं। हिन्दी में सूरदास में यही बात है। १६ १७ वीं शताब्दी की हिन्दी कविता का यही प्रधान लक्षण है।

पर १७ वीं शताब्दी के उत्तर भाग में यह अवस्था बदलने लगी। भक्तिमार्ग का बल कम होने लगा। कबीर या सूरदास के-से भाव साहित्य से दूर होने लगे। कविता से भक्ति लगभग लोप हो गई, केवल शृंगार रह गया। पहले शृंगार भक्ति में मिला हुआ था। अब वह अकेला ही रह गया। अठारहवीं शताब्दी की हिन्दी कविता प्राय कोरी शृंगार की कविता है। इसमें वह उच्च भाव नहीं है, वह नैतिक बल नहीं है, जो हमारे पहले के साहित्य में, उदाहरणार्थ, जो तुलसी और सूर में है। अठारहवीं शताब्दी में यह बात और भी बढ़ गई। अठारहवीं शताब्दी में और एक प्रभाव साहित्य पर पड़ा। साहित्य सदा जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। जब राष्ट्रीयजीवन महान आशाओं और आकाक्षाओं से परिपूर्ण होता है, जब राष्ट्र में उन्नति होती रहती है तब राष्ट्रीय साहित्य भी तरह तरह के विचारों और भावों से भरा पूरा रहता है। जब राष्ट्रीय जीवन आदर्शों से गिर जाता है और अवनति के मार्ग पर चलता है तब साहित्य भी सारहीन हो जाता है। अठारहवीं शताब्दी देश के इतिहास का अन्धकार काल है। राजनीति में यह पराजय का समय है। समाज में सकीर्णता का काल है। उद्योग-व्यापार का नाश इसी समय हुआ। इस समय की ललित कलायें गौरव से शून्य हैं। इस समय के भवन न तो हिन्दू मन्दिरों की भांति न आगरा सीकरी देहली इत्यादि की

मुसलमानी इमारतो की समता कर सकते हैं। इस काल की चित्रकारी जहाँगीर और शाहजहाँ के चित्रों से बिलकुल न्यारी है। साहित्य भी प्राय निर्जीव है, भाव और विचार उड गये हैं, कोरा शब्द-विन्यास रह गया है। जो दो चार प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न भी हुए तो वह समय के प्रभाव से एक सकीर्ण क्षेत्र में ही विचरते रहे। इस अवस्था का प्रारम्भ १७ वीं शताब्दी के उत्तर भाग से होता है। बिहारी की प्रतिभा भी इसके प्रभाव से नहीं बची है। कई वर्तमान लेखकों ने बिहारी को हिन्दी के श्रेष्ठ कवियो में रक्खा है। पर यह अन्य कवियो के साथ अन्याय है, कविता पर बलात्कार है। (बिहारी का क्षेत्र इतना सकुचित है, विचारों का इतना दौर्बल्य है, उसकी स्वाभाविक प्रतिभा कृत्रिम नियमो के नीचे ऐसी दब गई है कि वह साहित्य में इतना ऊँचा स्थान नहीं पा सकता। तथापि उसने भाषा पर ऐसा अधिकार दिखाया है, शब्द विन्यास में उसे ऐसा कौशल प्राप्त है, उसमें सक्षेप में बहुत से भाव प्रकट करने की ऐसी प्रतिभा है कि बिहारी का पठन पाठन बराबर जारी रहेगा।) बूढे और जवान सबही बिहारी के साहित्यिक चमत्कार से आकृष्ट होंगे। इसलिए एक सस्करण की आवश्यकता थी जिसमें बिहारी के गुणों का पूरा प्रतिबिम्ब हो पर उसका अनौचित्य न हो। प० रमाशकरजी ने इस आवश्यकता को पूरा करने का उद्योग किया है। उन्होंने बिहारी के सकलित पाठ को सर्वथा सुगम्य और सर्वांग-सुन्दर बनाया है। बिहारी के वर्तमान पाठों में से उत्तम पाठ छाँटकर उन्होंने दिया है। पर टिप्पणियो में भिन्न पाठ भी दे दिये हैं इससे विद्यार्थियो और अध्यापकों को तथा अन्य पाठकों को पाठ पर अपनी सम्मति स्थिर करने का अवसर मिलेगा। बिहारी के दोहों का अर्थ सुगम्य सरल भाषा में दिया गया है। प० रमाशकरजी की विस्तृत भूमिका विशेषत उपयोगी होगी, इसमें

उन्होंने ऐतिहासिक और वैज्ञानिक रीति से बिहारी के समय और कार्य की समीक्षा की है। हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में समालोचना का प्रारंभ अभी हुआ है। इस कार्य में रमाशंकरजी ने प्रशंसनीय योग दिया है। आशा है, उनका परिश्रम सफल होगा।

बेनीप्रसाद

यूनिवर्सिटी,
इलाहाबाद।
११-१-२६

संक्षिप्त बिहारी

अवतरणिका

हिन्दी भाषा के अन्य अनेक कवियों के सदृश महाकवि बिहारीलाल के भी जीवन काल का निश्चित परिचय नहीं दिया जा सकता। इनके रचित एक[1] ग्रन्थ दोहों और कुछ इधर-उधर लोगों के मौखिक कथनों के आधार पर तर्क और अनुमान

---

[1] अक्तूबर सन् १९२६ की "सरस्वती" में किसी महाशय ने 'बिहारी-बिहार' नामक पचास दोहों का एक संग्रह निकाला था। दोहों के पढ़ने से ज्ञात नहीं होता कि उनका लेखक सतसई-निर्माण-कर्त्ता हो सकता है। अतः उन दोहों के आधार पर बिहारीलाल की जीवनी तैयार करना ठीक नहीं जान पड़ता, किन्तु यदि उनको बिहारी की कविता मान लें तो उनके जीवन का वृत्तान्त, जो अब तक अंधकार में पड़ा है, प्रकाशित हो जायगा। उन दोहों से निम्न लिखित बातें मालूम होती हैं।

पितामह —वसुदेव जू, पिता केशवदेव, गाँव मधुपुरी,

जाति —ब्राह्मण, चौबे, माथुर (घ घरा) ककोर, इनके पुत्र कृष्ण

जन्म —"संवत् जुग शर रस सहित भूमि रीति गिन लीन्ह
कार्तिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमहिं विधि दीन्ह" (१६५४ सं०)

शिक्षा —वृन्दावन में नागरी दास के यहाँ जाकर
"विद्या काव्य अनेक विधि पढ़ी परम सदुपाय"
और "गान ताल सब सीखियो जपत रहे हरि नाम"
"निज भाषा अरु संस्कृत पढ़ि लीन्ही बहु भाँति"

के सहारे इनकी जीवनी लिखी जाती है—एनसाइक्लोपीडिया, ब्रिटैनिका (Encyclopaedia Britannica) में लिखा है कि ' Little is known of the author beyond what he himself tells us" (जो कुछ वह स्वयं कहता है उसके अतिरिक्त कवि के संबंध में प्राय कुछ नहीं ज्ञात है)—इसलिए इस विषय पर वाद-विवाद[1] न करके जो कुछ मालूम है अथवा अनुमान किया जा सकता है वही लिखा जायगा।

एक समय जयसिंह वहाँ गये और इनसे बहुत प्रसन्न हुए, तथा उन्होंने इन्हें अर्गलपुर मे बुलाया। ये आगरे के किले में "बहु काल" रहे, वहाँ फारसी इत्यादि पढी। शाहजहाँ ने जयसिंह को शाह की पदवी दी और इनको बहुत इनाम दिया। आमेर मे जयसिंह नवोढा रानी पर आसक्त थे। वहाँ सेज पर प्रसिद्ध दोहा रख के इन्होंने उनको आसक्ति से निकाला, फिर उनकी आज्ञा से सतसई रची। हर एक दोहे पर एक एक मुहर पायी, "चारि पाख के मॉंझ मे कविता को रचि दीन्ह", फिर घर आए, तब "डोरी लागी प्रेम की बृन्दावन के माँहि।" वहीं जीवन समाप्त हुआ, अनेक राजाओं के लिए कविताएँ बनाईं।

तब—

"कविता सों मन हटि गयौ लग्यो कान्ह सों ध्यान।
लाल बिहारी ह्वै गये दास बिहारी मान"॥

और फिर कृष्ण का नाम जपने लगे, इन बिहारी विहार की तिथि भी दी।

"सम्वत चिति श्रवक जलधि शशि मधु मास बखान।
शुक्ल पक्ष की सप्तमी सोमवार शुभ जान" ॥ (१६२१ सं०)

१ बिहारीलाल के संबध मे बहुत अधिक मत-भेद है, भिन्न भिन्न स्थानों में ये ब्रह्मभट्ट, माथुर ब्राह्मण, सनाढ्य मिश्र, कान्यकुब्ज और राय कहे गये हैं, कुछ लोग इनके पिता का नाम रामचन्द्रिका प्रणेता महाकवि केशवदास बतलाते हैं, कुछ लोग कृष्णकवि को इनका पुत्र कहते हैं। इनके जीवन चरित्र

कवि की जीवनी

बिहारीलाल का जन्म स० १६६० वि० के लगभग ग्वालियर के समीप वसुआ-गोविंदपुर के एक उच्च माथुर ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था। किसी अज्ञात कारण—संभवतः पिता की निर्धनता और असामयिक मृत्यु—से इन्होंने अपनी बाल्यावस्था बुन्देलखंड में, जहाँ शायद इनका ननिहाल था, व्यतीत की। तत्पश्चात् विवाह हो जाने पर इन्होंने अपनी सारी उम्र स्त्री के घर, मथुरा में, बिताई। आमेर के महाराज जयसिंह[1] (मिरजा राजा जयसिंह,

---

के संबंध में भी एकता नहीं, इनका जन्मस्थान, बुंदेलखंड रहना, मथुरा में ससुराल होना और वहाँ बस जाना, जोधपुर में जाना, इन सब बातों पर बहुधा वाद विवाद हुआ करता है, निम्न लिखित दोहे और पदों पर इनका जीवन-वृत्तांत अवलंबित है—

"जन्म लियो द्विजराजकुल, प्रगट बसे ब्रज आय।
मेरे हरो कलेश सब, केशव केशवराय॥"
"जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥"
"माथुर विप्र ककोर कुल, बसत मधुपुरी गाँव।"

इनके अतिरिक्त अनुमान, जनश्रुतियाँ, और जीवनी में दिये हुए दोहे सहायक हैं।

१ जयसिंह जगतसिंह के पुत्र थे। जहाँगीर बादशाह (सं० १६०५ ई०) ने अपनी बेगम जोधाबाई के कहने के अनुसार इनको राजा मानसिंह (मृत्यु-सं० १६७० वि०) का तृतीय उत्तराधिकारी जयपुर का राजा (सं० १६१७ ई०) बनाया। ये वही जयसिंह हैं जिन्होंने सम्राट् औरङ्गजेब की आज्ञा से महाराज शिवाजी को दिल्ली तक लाने में सफलता प्राप्त की थी। ये

जयशाह, या जयसाह) इनको बहुत मानते थे और उन्हीं के लिए इन्होंने सतसई की रचना की थी। एक दोहे में कहा भी है—

"हुकुम पाय जयसाह को, हरि राधिकाप्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥"

जयपुर महाराज तक इनकी पहुँच होने की कथा यों प्रचलित है। जयसिंह अपनी एक मुग्धा रानी पर इतने आसक्त हो गये थे कि उसको छोड़ कर राजकाज के लिए बाहर आते ही न थे, उस समय बिहारीलाल ने निम्न-लिखित दोहा फूलों में रख कर महाराज की सेज पर भेजवा दिया—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो बँध्यो, आगे कौन हवाल॥"

महाराज की आँखें खुल गईं, दरबार में आये और काम धाम करने लगे। प्रसन्न होकर कवि को अपने यहाँ रख लिया और भेंट पुरस्कार इत्यादि के बाद और दोहे लिखने की आज्ञा दी। बिहारी ने जयसिंह संबंधी कई दोहे लिखे हैं। किंतु अन्य कवियों के सदृश उनकी भरमार नहीं कर दी है। उनकी शूरता, वीरता, उदारता, चातुर्य तथा सौन्दर्य का वर्णन कहीं कहीं किया है[1]। बिहारीलाल प्रसंगानुसार कविता करने में भी बहुत निपुण

मिरजा भी कहे जाते थे। सन १६६७ ई० में विष-द्वारा इनका स्वर्गवास हो जाने पर रामसिंह और कृष्णसिंह में राज्य के लिए लड़ाई होने लगी। अंत में रामसिंह गद्दी पर बैठे। उपर्युक्त सम्मतों में कहीं-कहीं मतभेद भी है।

१ यो दल काढ़े बलख तें, तैं जैसाह भुआल।
उदर अधासुर के परे, ज्यों हरि गाय गुवाल॥ ॥१॥
घनो बढ़ी उमड़ी लखे, असिवाहक भट भूप।
मंगल करि मान्यो हिए, मो मुँह मंगल रूप॥२॥

थे। जयसिंह ने एक चित्र में सर्प, मोर, मृग और बाघ को एक ही वृक्ष के नीचे देखकर प्रश्न किया तो कवि ने झट उत्तर दिया—

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ, निदाघ॥"

महाराज का स्वर्गवास हो जाने पर बिहारीलाल का चित्त संसार से खिंच गया। जान पड़ता है, इनका आदर भी बहुत कुछ कम हो गया। न तो वह समय रहा न वैसे लोग रहे। कवि ने एक स्थान पर लिखा भी है—

"चले जाहु ह्यां को करत, हाथिन को व्यवहार।
नहिं जानत ह्यां बसत हैं, धोबी और कुम्हार॥"

फिर कहा है—

"वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदरतो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवईं गाँव गुलाब॥"
"अरे हंस या नगर में, जैयो आप विचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि, कोकिल दई बिडारि॥"
"कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत गुरु, जगनायक जग बाय॥"

ऐसे दोहों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिहारीलाल संसार से असंतुष्ट हो गये थे। जान पड़ता है कि इन्हीं दिनों ये अपना स्थान छोड़कर मारवाड़ चले गये। तिस पर भी शांति न

चलत पाय निगुनी गुनी, धन मनि मुकुता माल।
भेंट होत जयसाह सों, भाग्य चाहियत भाल॥३॥
सामा सैन्य सयान सुत, सबै साह के साथ।
बाहुबली जयसाहजू, फत्ते तिहारे हाथ॥४॥
प्रतिबिंबित जयसाह दुति, दीपति दर्पण धाम।
सब जग जीतन को कियो, कायव्यूह मनु काम॥५॥

मिली। जयसाह की मृत्यु के अनन्तर दो उत्तराधिकारियों को परस्पर लड़ते और प्रजा को पीड़ित होते देखकर इन्होंने, यह नीति और कवित्व-पूर्ण दोहा बनाया—

"दुसह दुराज प्रजान को, क्यों बाढ़ै दुखद्वंद।
अधिक अँधेरो जग करै, मिलि मावस रविचन्द ॥"

(जीवन के अंतिम समय में इन महाकवि ने ऐसे दोहे निर्माण किये हैं जिनकी गणना लौकिक चातुर्य, श्रेष्ठ अनुभव और ईश्वर-भक्ति के सर्वोच्च दृष्टांतों में हैं।) इन दोहों के पढ़ने पर विदित होता है कि बिहारीलाल के हृदय में भक्ति और ज्ञान की प्रबल धारा प्रवाहित थी। शृंगाररस-पूर्ण कविता के आधिक्य से इनके आचार-विचार को किसी प्रकार कलंकित समझना उचित नहीं है। इनके जीवन की कोई ऐसी घटना नहीं है जिससे इनके आचरण में किसी प्रकार का कलंक प्रतीत हो सके। इनके ग्रन्थ से केवल यही प्रमाणित हो सकता है कि मानव-चरित्र, प्रकृति और हृदय के गूढ़ भावों को ये खूब समझते थे। मनुष्य लीला का इनको इतना पूर्ण ज्ञान था कि छोटी सी सतसई पढ़कर पारखी जन दंग रह जाते हैं। जिस दोहे से इन्होंने जयसाह को प्रेम-जाल से निकाला उसके पढ़ने से सिद्ध होता है कि शृंगार की पूरी सामग्री रहते हुए भी कर्तव्य पर इनका पूरा ध्यान था। ये धर्म को हाथ से जाने नहीं दे सकते थे। इन्होंने समय समय पर सब तरह के भाव दर्शाये हैं। उनमें किसी एक के लिए निश्चित रूप से कहना कि यह बिहारी के आचरण से संबंध रखता है अति कठिन और बड़े साहस का काम है। अत इनके हृदय को स्वच्छ और आचरण को शुद्ध ही मानना ठीक है। अपने ग्रथ को शांत रस से सींच कर और भक्ति भाव से सुशोभित करके इन्होंने शरीर त्याग दिया। यदि

युवावस्था में कुछ त्रुटियाँ रही भी हों तो उनको अन्तिम काल में इन्होंने दूर कर दिया। सतसई के समाप्त होने का समय कवि ने स्वयं एक दोहे में बतलाया है—

"सवत ग्रह[१]शशि जलधि छिति, छठ तिथि वासर चन्द।
चैतमास पख कृष्ण में, पूरण आनँद कंद॥"

---

१ भारतवर्ष के कवियों में गणना की यह प्रथा है—

१—चन्द्र, क्योंकि इस भूमडल के लिए चन्द्र एक ही है। छिति, भूमि इत्यादि भी प्रयुक्त है।

२—पक्ष, क्योंकि पक्ष दो होते हैं। कृष्ण पक्ष और शुक्लपक्ष।

३—नेत्र ,, शिवजी के तीन नेत्र मानते हैं, "त्रिलोचन"।

४—वेद ,, वेद चार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, युग भी प्रयुक्त है।

५—बाण—मदन के पचशर। सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन, स्तम्भन।

६—ऋतु—षट्ऋतु, वसत, ग्रीष्म, पावस, शरद्, हेमत, शिशिर। रस भी ६ होते हैं

७—सागर—सप्त सागर। लवण, इक्षु, सुरा, सर्पि, दधि, दुग्ध, जल, मुनि इत्यादि से भी ७ का बोध होता है।

८—वसु—अष्ट वसु —भव, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभव।

९—ग्रह—नवग्रह —सूर्य, चन्द्र, मगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु।

१०—दिक—दश दिशाये—उत्तर, उत्तर पूर्व, पूर्व, पूर्व दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम पश्चिम उत्तर, ऊर्ध्व, अध।

०—रसन = रस + न, बिना रस, शून्य।

अथवा संवत् १७१६ वि० (सं० १६६२ ई०,) में चैत्र मास के कृष्णपक्ष षष्ठी चन्द्रवार को सतसई समाप्त हुई। इसके पश्चात् विहारीलाल कब तक जीवित रहे इसका कुछ पता नहीं। किन्तु अनुमान से थोड़े ही काल के पश्चात् उनका परलोक सिधारना ज्ञात होता है। अतएव संवत्, १७२० वि० उनकी मृत्यु तिथि हो सकती है।

सतसई के पढ़ने से विहारीलाल के विचारों का भी कुछ कुछ पता चलता है। यद्यपि इस छोटे से ग्रंथ के आधार पर कोई राय निश्चित रूप से नहीं प्रकट की जा सकती, तथापि दो चार दोहों के सहारे कुछ अनुमान किया जा सकता है। उस समय के धार्मिक सम्प्रदायों का वाद-विवाद और कलह इनको पसंद न था। इनकी समझ में सब मतों का सार तथा उद्देश केवल एक परब्रह्म की, (दे० दो० सं० २१२) जो सर्वव्यापी है, सेवा है। (दे० दो० सं० १६८) ये राम कृष्ण दोनों ही को ईश्वर मानते थे, (दे० दो० सं० २०६ और २१३) किंतु कृष्ण तथा गोपाल, यदुपति इत्यादि नाम इनको अधिक प्यारे थे। विहारीलाल ने भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हुए तिलक छाप इत्यादि को व्यर्थ ठहराया है (दे० दो० सं० २०८)

भारत के अनेक अन्य कवियों की तरह स्त्री को ये भी मुक्ति के रास्ते में एक बाधा समझते थे। (दे० दो० सं० २०१) ये विषय भोग के त्याग और संतोष (दे० दो० सं० १७३, १७८) तथा ईश्वर पर विश्वास (दे० दो० सं० २११) को पूर्ण सुख का द्वार समझते थे। कंजूसी इन्हें पसंद न थी। इनके मतानुसार धनोपार्जन और उसका ठीक प्रयोग करना ही उचित है—

"मीत न नीत गलीत ह्वै जो धन धरिये जोरि।
खाये खरचे जो बचै तौ जोरिये करोरि"।

बिहारीलाल की राय में स्त्री को पति का बल होता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का वास्तविक तात्पर्य यही है कि एक के गुण से दूसरा गुणी हो—

"नाह गरज नाहर गरज बोलि सुनायो टेरि। ×
फँसी फौज के बन्दि में हँसी सबन तन हेरि।"

इस प्रसंग में महाकवि मतिराम का एक दोहा स्मरण आ जाता है—

"करौ कोटि अपराध तुम वाके हिये न रोप।
नाह सनेह समुद्र में बूड़ि जात सब दोप।"

पाठकों को बिहारीसतसई पढने पर एक आध और बातें मालूम हो सकती हैं।

कवि का समय[१]

महाकवि बिहारीलाल सत्रहवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। जिस समय इनका जन्म हुआ था गोस्वामी तुलसीदास अभी जीवित थे, किन्तु सत्तर एकहत्तर वर्ष की अवस्था पाकर अब स्वर्ग की तैयारी कर रहे थे। महाकवि केशवदास भी इसी लोक में उपस्थित थे, परन्तु गोसाईं जी से पहले ही उन्होंने शरीर

---

१ A literary work is not a mere individual play of imagination, the isolated caprice of an excited brain, but a transcript of contemporary manners, a manifestation of a certain kind of mind"—Taine's History of English Literature अर्थात् साहित्यिक रचना केवल व्यक्तिगत कल्पना की लीला अथवा उष्ण मस्तिष्क की असम्बन्ध उत्कल्पना नहीं, समसामयिक आचारादि का अनुलेख तथा एक विशेष मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति है।

त्याग दिया। विहारी के समकालीन कवियों में भूषण और मतिराम के नाम सबसे प्रसिद्ध हैं। महाकवि देवदत्त के जन्म लेने के पहले ही बिहारीलाल का स्वर्गवास हो गया।

यह वह समय था जब भारतवर्ष में किसी प्रकार की हलचल न थी। सम्राट् अकबर मुगल राज्य स्थापित कर चुका था। जहाँगीर और शाहजहाँ कर्णधार बने हुए शिथिल सागर में उसे चला रहे थे, औरंगजेब की अदूरदर्शी दृष्टि ने राजनीति को अभी चौपट नहीं किया था, शिवाजी महाराज के बल-पूर्वक पूर्ण विरोध का समय अभी आ रहा था। राजपूताने में चारो ओर शांति फैली हुई थी, लड़ाई दंगा, कुटिल नीति, विश्वास-घात, तथा अराजकता का समय अभी आनेवाला था। यह बहुत ही उपयुक्त समय था जब रसिक-जनो की वृद्धि होती, रसमयी कविता का विकास होता और बिहारीलाल सतसई के रचयिता होते। लोगों को सुखमय जीवन व्यतीत करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था, विदेशी आक्रमणों का भय नहीं रह गया था। देश के भीतर एक ही महान् सम्राट् था जिसका लोहा सब मानते थे, और जिसके शासन में शांति-प्रेमी प्रजा निर्भय होकर अपना काम-काज कर सकती थी।

एक ओर देश की ऐसी स्थिति थी, दूसरी ओर भी दृष्टि डालने पर समय की उपयुक्तता दीख पड़ती है। सोलहवीं शताब्दी बीत चुकी थी, हिन्दू-धर्म और इसलाम के परस्पर मुठभेड़ का काल समाप्त हो चुकने पर एक नवीन फल निकल रहा था, शिल्प, स्थापत्य, गान विद्या, चित्रकारी—सबने अपना अपना रस-पूर्ण रंग दिखलाया था, सुन्दरता की हर जगह पूछ थी, अकबर के दो उत्तराधिकारियों ने पत्नीप्रेम की हद कर दी थी, उन्होंने संसार में सबसे सुन्दर महल बनवाये थे, संगीत और चित्र विद्या को शिखर पर पहुँचा दिया था। धातु

मंडल ही कुछ आनन्दमय हो रहा था। ऐसे काल में रसपूर्ण कविता[1] होनी ही चाहिए थी।

---

१ स्मरण रहे कि यह काल ही कला का था। नृत्य, गान, वादन, चित्र, शिल्प, स्थापत्य सभी कलाओं की वृद्धि हुई, अतः काव्य-कला का समय भी यही था। मुगलराज का झुकाव कला की ओर अधिक था और भारतीय सभ्यता पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। प्राचीन भारत में ज्ञान और विज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। संगीत ही को लीजिए। प्राचीन भारत संगीत विज्ञान अथवा संगीत शास्त्र की ओर अधिक झुका था। मुगलराज ने संगीत-कला की ओर झुकाव डाला। इसी प्रकार चित्रकारी को देखिए, मौलिक भारतीय चित्रकारी में विज्ञान अधिक है, उस चित्रकारी का मुख्य गुण यह है कि जो भाव दर्शाना होता है उसको पूर्ण रूप से दर्शाते हैं, प्रधान वस्तु को उचित रूप से दिखलाते हैं। किन्तु मुगलराज में चित्रण-कला की उन्नति—चित्र की सजावट, सुन्दर किनारा, प्रधान वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को शृंगार सहित बनाना—इन सबकी बारी आई।

यही दशा कविता की भी हुई, काव्य-कला बढ़ने लगी। उस समय तो ऐसा आगया कि चाहे भाव कुछ भी हो, चाहे विचार किसी प्रकार के हों किन्तु यदि वे सुन्दर अलंकृत भाषा में प्रकट किये गये हों तो उन्हें काव्य कहा जाता था और यदि कविता शृंगार रस की हो तो फिर उसका पूछना ही क्या।

बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं कि सूर तुलसी के बाद अलंकारों की भरमार होगई। सेवक स्वामी बन बैठे। संयोग से इस समय अलंकार के उपासकों को राधावल्लभी सम्प्रदाय का सहयोग प्राप्त होगया। नायिका-भेद की धारा के बढ़ने का यही मुख्य कारण है, क्रमशः नायिका-भेद नखशिख और षट् ऋतु का वर्णन प्रत्येक कवि के लिए आवश्यक होगया।

तीसरी बात, जो विचारयोग्य है, यह है कि वैष्णव सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ महाकवि का समय बीत चुका था, सूरदास तथा तुलसीदास काल कवलित हो चुके थे। रामायण और विनय-पत्रिका इत्यादि ग्रंथ लिखे जा चुके थे। जैसा प्रकृति का नियम है, कार्य और प्रतिकार्य सदा हुआ करता है। धार्मिक संप्रदायों, भगवद्भजन और ईश्वर गुणानुवाद के पश्चात् लौकिक रीति, स्त्री-पुरुष चरित्र, और सुख विलास के कथन का समय आया, महाकवि केशवदास ने रास्ता खोल दिया था। आगे चल कर महाकवि मतिराम को यही रास्ता पकड़ना था। बीच में बिहारी लाल ने इसको ऐसा सुशोभित किया कि वह अब तक जगमगा

इस प्रवृत्ति के कुछ अच्छे और कुछ बुरे दोनों ही प्रभाव पड़े। भाषा में एक नये ढग का माधुर्य आ गया, किन्तु भाव विचार की कमी होगई और साधारण जनता का आचरण प्राचीन भारतीय आदर्शों से कहीं नीचे गिर गया, इस कला-काल के आदि में बिहारीलाल हुए थे, उनमें उत्तर-कालीन कवियों की अपेक्षा अश्लीलता कम है किन्तु उनका भी ध्यान अधिकतर कला ही की ओर रहा और काव्य कला में वे पराकाष्ठा को पहुँच गये। इसीलिए उनकी 'कविता' न लिखकर उनकी 'काव्य-रचना' शब्दों का प्रयोग किया गया है (दे० आगे) कुछ भाषाओं में (जैसे रोम की) और कुछ व्यक्तियों में (जैसे वर्जिल Virgil) काव्य-कला ही प्रधान है (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका)। कविवर बिहारीलाल भी इस सम्बन्ध में वर्जिल की श्रेणी के हैं। तुलसीदास ने कविता की जो परिभाषा दी है उसकी कसौटी पर कसे जाने से बिहारीलाल का महत्त्व अवश्य घट जाता है तथापि उनका स्थान तुलसीदास और सूरदास के बाद और सब कवियों से ऊंचा ही रहेगा (दे० आगे) लाला सीतारामजी ने लिखा है कि सतसई हिन्दी साहित्य के अमूल्य रत्नों में से है, जिससे बिहारीलाल को श्रेष्ठ कवियों का पद प्राप्त है और उनका स्थान केवल तुलसीदास और सूरदास ही के बाद है।

रहा है, और सदा ऐसा ही जगमगाता रहेगा। परन्तु यह स्मरण रहे कि सूर और तुलसी का अटल प्रभाव बराबर बना रहा। जिस समय बिहारी ने श्रृंगार छोडा बस उसी समय सब उस ओर टूट पडे जिधर इन महात्माओं ने अपनी-अपनी कुटियाँ बना रखी थीं। ये भी भक्ति और शांत रस की बडी मनोहर छटा दिखला गये। जिस प्रकार सूरदास ने विनय की है उसी प्रकार इन्होंने भी की। कई जगह तो शब्द, अर्थ, भाव[१] सभी मिल गये हैं। और भाषा तो दोनो की ब्रज है ही। तुलसीदास का भी प्रभाव इन पर पडा था जैसा कि निम्नलिखित दोहों से प्रकट होता है—

"यह बिरिआ नहिं और की, तू करिआ वह सोध।
पाहन नाव चढाय जिन, कीने पार पयोध॥
पतवारी माया पकरि, और न कछू उपाय।
तरि संसार पयोधि को, हरि नामै करि नाव॥
नधु भये का दीन के, को तारयो रघुराय।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद बुलाय॥"

अर्थात् राम-कृष्ण दोनो को ईश्वर-स्वरूप जानकर इन्होंने विनय की है। इन्होंने किसी एक पक्ष का समर्थन नहीं किया। तुलसीदास के सम्बंध में एक दोहा प्रसिद्ध है कि कृष्ण की मूर्ति को देखकर उन्होंने तब तक प्रणाम करना अस्वीकार किया जब तक हाथ में धनुष-बाण न दिखाई पडे—

"कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लो हाथ[२]"॥

---

१ टीका के प्रसग में तुलना के लिए सूरदास तथा अन्य कवियो के पद स्थान स्थान पर लिख दिये जायँगे।

२ किन्तु तुलसीदास के सम्बन्ध में यह कदापि न भूलना चाहिए कि उन्होंने अपने राम चरित-मानस में शैव और वैष्णव दोना सम्प्रदायो का मनोहर मेल करा दिया है।

किन्तु, यह कथन बिहारीलाल के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। कवि ने स्वयं कहा है—

"अपने अपने मत लगे, वादि मचावत सोर।
ज्यों त्यों सबही सेइबो, एकै नन्दकिसोर॥"

तथापि इन्होंने कृष्ण ही का नाम अधिक लिया है। एक तो व्रज में रहते ही थे। दूसरे इनकी रसिक कविता के लिए राधा-कृष्ण ही का वर्णन ठीक था। (हिन्दी के कवियों और गवैयों ने शृंगाररस का वर्णन अधिकतर राधा-कृष्ण ही को नायिका-नायक बना के किया है। इस प्रथा का विशेष गुण यह है कि विषय भोग की बातें धार्मिक रंग में रँगने से अपना अहितकारी प्रभाव बहुत कुछ छोड़ देती हैं।)

चौथी बात, जो स्मरणीय है, यह है कि जीवन के दिव-सान्त में बिहारीलाल संसार से असंतुष्ट होकर उससे विमुख हो गये। राजा जयसिंह की मृत्यु ने इनकी सब बात ही बिगाड़ दी। किंतु कविता पर इसका अच्छा ही प्रभाव रहा। युवक-युव-तियों पर इतना लिखने के बाद ईश्वर और वैराग्य पर भी उत्कृष्ट कविता करने का अवसर मिल गया। वही बिहारीलाल जो किसी समय स्त्री स्वरूप को सब कुछ समझ बैठे थे, जिनके लिए संसार या मनुष्य-जीवन में और कोई बात ही नहीं थी—

"तिय तिथि तरनि किसोर वय, पुन्यकाल समदौन।
काहू पुन्यनि पाइयत, बैसमधि सक्रौन॥"

"ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय॥"

अब तुलसीदास की तरह इस प्रकार लिखने लगे—

"या भव-पारावार को, उलँघि पार को जाय।
तिय छबि छाया ग्राहनी, गहै बीचही आय॥"

और इतने विरक्त हो गये कि लिखते हैं—

"कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय॥"
"कोऊ कोटिक सग्रहो, कोऊ लाख हजार।
मो सपति यदुपति सदा, विपति विदारनहार॥"

सतसई पढने से उस समय की दो चार सामयिक बातों का भी पता मिलता है। स्त्रियो में परदा रहता था, अपने पुरुष से भी उनको बहुधा रात्रि ही को भेंट हुआ करती थी, घूँघट से मुख ढके रहने की चाल थी, और स्त्रियाँ अपने को गहनो से आभूषित रखती थीं। पैर म महावर तथा नेत्र में अजन लगाने की भी रीति थी। नवल-वधू की मुखदिखरावनी हुआ करती थी और स्त्रियाँ व्रत इत्यादि रह कर चन्द्रमा को अर्घ देती थीं। गोधन इत्यादि की पूजा भी प्रचलित थी। कभी कभी एक पुरुष की कई पत्नियाँ होती थीं जिनमें साधारणत आपस में द्वेष रहा करता था। पडित लोग पुराण की कथाएँ तथा धार्मिक शिक्षाएँ सुनाया करते थे। वर्तमान समय में ये सब बातें और रीतियाँ धीरे-धीरे उठी जा रही हैं। समय के परिवर्तन के साथ आदर्श, सस्कार, तथा विचार कुछ और ही हो रहे हैं।

इस प्रसग में उचित ज्ञात होता है कि अँगरेजी भाषा के विद्यार्थियो के लिए अँगरेजी साहित्य का भी थोडा सा परिचय दे दिया जाय, क्योंकि टीका के भीतर स्थान स्थान पर तुलना के लिए अँगरेजी कविता के पद भी लिख दिये जायँगे। सत्रहवीं शताब्दी इँगलिस्तान के इतिहास में एक विचित्र काल है। महारानी एलिजबेथ का देहान्त हो जाने पर (स० १६०३ ई०) स्टुअर्ट-वश का राज्य हुआ। परन्तु, कुछ ही समय के पश्चात् राजनैतिक और धार्मिक कारणों से देश में अशाति फैल गई और युद्ध

छिड़ने लगा। स० १६६० में जब यह वंश फिर पूर्वावस्था को प्राप्त हुआ तो समय कुछ और ही होगया था। चार्ल्स की विषयासक्तता ने ऐसा दुष्प्रभाव डाला कि शुद्ध आचरणवाले हाय हाय करने लगे। दुराचार सर्वत्र फैल गया। अति नैष्ठिकतावाद (Puritanism) की कट्टरता और धर्म-बंधन से छूट कर लोगों को भोग विलास की सूझी, कवि और नाट्यकारों ने भी सहायता की। साहित्य अश्लील बातों से भर गया। एक बेचारा मिल्टन, जो तब तक अंधा हो चला था, धर्म-पथ पर डटा रहा और प्रवाहित धारा को रोकने का प्रयत्न करता रहा। किन्तु अकेले उसके किये क्या होता। भारतवर्ष की वैष्णव-जाति में कट्टरता न थी। दिखावटी बन्धनों का जोर न था। वह एक उदार आन्दोलन था। इसीलिए यहाँ इँग्लिस्तान की सी बातें नहीं हुईं। उस समय के अँगरेज़ी कवियों के कुछ नाम नीचे[१] लिखे जाते हैं।

अँगरेज़ी पढ़नेवालों को एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। हिन्दी और अँगरेज़ी कविता में बहुत से भेद हैं। उनमें एक बड़ा भेद यह है कि हिन्दीवाले शोभा वर्णन करते समय अंग-प्रत्यंग का

---

१ एब्रहम काउली (Abraham Cowley) 1618 1667 १६१८—१६६७ ई०
रिचर्ड क्रैशा (Richard Crashaw) 1613—1649 १६१३—१६४६"
जान ड्राइडेन (John Dryden) 1631—1700 १६३१—१७००"
राबर्ट हेरिक (Robert Harrick) 1591—1674 १५६१—१६७४"
मिल्टन (Milton) 1608—1674 १६०८—१६७४"
एडमंडवॉलर (Edmund Waller) 1606—1687 १६०६—१६८७"
सर टामसव्हिआट (Sir Thomas Wyatt) 1503—1542 १५०३—१५४२"

विलियमशेक्सपियर (William Shakespeare १६१६ ई० और बेन जॉनसन Ben Jonson) सं० १६३७ ई० में मर गये। टीका में अनेक बड़े कवियों के नाम आयेंगे जो बिहारी के समकालीन न थे, जैसे कीट्स (Keats) शेली (Shelley) इत्यादि।

सौन्दर्य दिखलाते हैं। और हर एक के लिए उपयुक्त आ
वर्णन देते हैं। दूसरी बात यह है कि हिन्दी कवि अलंकार, रस और भाव बहुत पसंद करते हैं तथा मानसिक दशाओं का पूरा चित्र अलंकारों की सहायता से सरस भाषा में दिखलाते हैं। अँगरेज़ी की उपमाएँ तथा अन्य अलंकार, रसभेद, नायक-नायिका भेद इत्यादि हिन्दी की उपमाओं आदि के सामने कुछ नहीं हैं[१]। प्रसंगानुसार कहीं कहीं टीका के भीतर ही दृष्टान्त दे दिये जायँगे किंतु इतना लिख देना अनुचित न होगा कि बिहारी के टक्कर का कवि अँगरेज़ी भाषा में पाना अत्यन्त कठिन है[२]।

---

१ इस कथन से अँगरेज़ी साहित्य की निन्दा न समझनी चाहिए। उस साहित्य-सागर में भी कितने ही गुण हैं जो हिन्दी तथा अनेक अन्य भाषाओं में बहुत कम मिलते हैं तथापि उपर्युक्त दो गुणों में, जो बिहारी में बहुतायत से मिलते हैं, अँगरेज़ी साहित्य सामने नहीं खड़ा हो सकता।

२ स्वयं ग्रीयर्सन साहब लिखते हैं ' Bihari Lal has been called the Thompson of India, but I do not think that either he or any of his brother lyric poet of Hindusthan can be usefully compared with any Western poet I know nothing like his verses in any European language Let it be remembered that each couplet is complete in itself Each verse must be one whole —an entire picture,—frame and all '

[बिहारीलाल भारतीय टॉमसन माना गया है। परन्तु मैं नहीं समझता कि उसकी अथवा उसके सदृश अन्य किसी भारतीय गीति-कवि की लाभदायक (उचित रूप में) तुलना किसी पाश्चात्य कवि से की जा सकती है। मुझे किसी भी योरपीय भाषा में उसके पदों के सदृश पद नहीं मालूम हैं। स्मरण रहे कि प्रत्येक दोहा स्वयं संपूर्ण है प्रत्येक दोहा एक समष्टि होना चाहिए—एक पूरा चित्र,—चौखट और सब (कुछ)]

का कोई कोई दोहा संसार भर में अद्वितीय है, और गरेजी भाषा में सतसई के अंतिम दोहों के जोड़ के पद्य ढूंढना ऐसा ही है जैसा मशीन में आत्मा ढूंढना। खैर यह तो शेषत: पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यताओं के अंतर के कारण है। भारतीय जीवन के आदर्श, धार्मिक नियम, सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा आचार विचार ही भिन्न हैं, जिनके कारण विहारी जैसे अद्वितीय रसिक कवि भी वैराग्य के प्रभाव से न बच सके।

विहारी की काव्य-रचना

महाकवि विहारीलाल रचित केवल एक ही ग्रंथ प्राप्त है जो सतसई के नाम से प्रसिद्ध है। निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने केवल इतना ही लिखने में अपनी सारी उमर खपा दी अथवा इनके कुछ ग्रंथ समय तथा कुपारखियों के पाषाण हृदय पर चूर हो गये। कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि कवि ने हज़ारों दोहे बनाये और उनमें से सर्वोत्कृष्ट प्राय सात सौ छाँट कर शेष को "साधारण या शिथिल" जान नष्ट कर दिया। वास्तव में क्या बात है इसका किसी को ठीक ज्ञान नहीं, अत केवल सतसई ही के आधार पर वर्तमान समय में विहारी का नाम सुप्रतिष्ठित है।

यह छोटा सा ग्रंथ मधुर ब्रज भाषा में दोहा और सोरठा[1] छन्दों में लिखा गया है। परन्तु कवि ने जगह जगह अन्य देशी

---

१ दोहा और सोरठा द्विपदी छन्द है जिनका प्रत्येक पद २४ मात्राओं का होता है। दोहे के पद में १३ मात्रा पर और सोरठे के पद में ११ मात्रा पर विराम होता है। पद के दोनो खंडों को उलट फेर के पढ़ने से दोहा सोरठा और सोरठा दोहा हो जायगा।

और विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है। "बिहारी ने फारसी, अरबी, तुर्की और राजपूतानी शब्दों के सहारे भी बड़ी अच्छी उक्तियाँ कही हैं"[१] (लाला भगवानदीन)। कहीं कहीं प्रांतीय[२] शब्द भी अधिक प्रयुक्त हैं।

बिहारी द्वारा प्रयुक्त शब्दों में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए। (१) कुछ शब्द तोड़ मरोड़ के विकृत रूप में लिखे गये हैं जैसे 'अगिनि' (अग्नि) 'मोख' (मोक्ष) 'ईठि' (इष्ट) 'घट' (घाट) 'ससो' (साँस) 'चाढ' (चढ़कर)। अनेक शब्द तुक के लिए भी बिगाड़े[३] गये हैं। (२) कुछ शब्दों से अधिक अर्थ लिया गया

उदाहरण —मे री भ व बा धा ह रौ, रा धा ना ग रि सो य (दोहा)
२ २ १ १ २ २ १ २, २ २ २ १ १ २ १
पा प म क ठि न जु पी र, श य ला क्यों क रि स हि म कै (सोरठा)
२ १ १ १ १ १ १ २ १, १ १ २ २ १ १ १ १ १ २

(दीर्घ मात्रा को दो और ह्रस्व को एक गिनते हैं)

१ अदब, गनी, इजाफा, ताफता, मतीर इत्यादि का प्रयोग हुआ है।

२—ठेठ बुंदेलखंडी के कई शब्द आये हैं जैसे 'स्यो' (सहित), 'लए' (पखारा), 'टू का देना' (छिप कर सुनते फिरना) 'लखबी' 'गनबी', इत्यादि। अन्य ब्रज भाषा कवियों ने भी 'लखबी' इत्यादि का प्रयोग किया है। स्वयं सूरदास लिखते हैं "मोहि तोहि जानबी नँदनन्दन जब वृन्दावन से गोकुल जैयो" दास ने भी 'कहिबी', 'पूछबी' लिखा है। कुछ विकृत शब्द जैसे 'मूका' (मोखा), 'गियाल' (गैल) आदि पूरब में ही बोले जाते हैं।

३ हिन्दी के कवियों ने बहुधा ऐसा किया है, कविशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के ग्रंथ इनसे भरे पड़े हैं, बिहारी के विकृत शब्द

है। वास्तव में वे उतना अर्थ देने में असमर्थ[1] हैं। (३) दो चार शब्द अवसर पड़ने पर गढ़ भी लिये गये हैं। जैसे 'छांकु', 'उड़ायक' इत्यादि।

इस प्रकार एक आध और छोटे-मोटे शब्द, व्याकरण अथवा पद संबंधी दोष निकाले जा सकते हैं। तथापि बिहारी की भाषा अति मनोहर है। एक तो यह स्वयं व्रज[2] ठहरी दूसरे, बिहारी के हाथों पड़ी। सोने में सुगंध मिल गई। इनके दोहे भाषा माधुर्य और सौंदर्य के आधिक्य से लहलहाते-जगमगाते दीख पड़ते हैं। सुन्दर सजीव शब्दों की भरमार है। पन्ने उलटते चले जाइए, जी नहीं ऊबता, पद और भी हृदयग्राही होते जाते हैं। बात की बात में सतसई समाप्त हो जाती है। तब क्रोध सा उत्पन्न होता है कि कवि ने आगे क्यों नहीं लिखा। फिर सोचने पर ज्ञात होता है कि अब बचा ही क्या जो लिखा जाता। बिहारी के शब्द

बहुत से अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं 'च' को 'स' लिखना तो साधारण बात है। 'अक्षर' को 'आखर' कितनों ही ने कहा है।

१ निम्नलिखित पदों में 'ज्यों' का अर्थ 'ज्यों त्यों' और 'दीजतु' (दे० दो० १६ पादटीका) का अर्थ 'देती है' या 'देगी' है।

"सबहिनु बिनुही ससि-उदै, दीजतु अरघ अकाल"
"जात जात ज्यों राखियत, पिय को नाम सुनाय"।

२ फारसी के प्रसिद्ध कवि अली हज़ीं व्रज भाषा की मधुरता की प्रशंसा सुन कर उसका फारसी से मुकाबिला करने के लिए व्रजमंडल को चले। वहां पहुँचते ही एक ग्वालिन के एक छोटे बच्चे को माँ के पीछे पीछे जाते और रास्ते की ककड़ियों से पीड़ित होकर रोते हुए देखा, वह कह रहा था "माय री माय मग मांवरी पगन में कांकरी गड़तु हैं।" शायर साहब दंग हो गये। उन्होंने सोचा कि अज्ञान बच्चे की यह भाषा है। कवियों की भाषा तो अमृत सागर ही होगी।

गठन और पद रचना का एक बडा गुण यह है कि जैसा भाव वर्णित है अथवा दृश्य या चरित्र चित्रित है ठीक वैसे ही शब्द प्रयुक्त हैं। शब्दों का परिवर्तन तथा हेर-फेर सब मामला ही बिगाड देता है। यदि किसी पद का एक शब्द हटा के दूसरा रख दीजिए तो वह रस, वह माधुर्य सब चला जाता है। सुनिए —

"लीक नहीं यह पीक की, श्रुति मनि-मूल कपोल"।

"अंग अंग नग जगमगत, दीपसिखा सी देह" ॥ (सच पूछिए तो यह इनकी कविता ही का स्वरूप है)।

"चमचमात चचल नयन, बिचघूँघट पट झीन" (इनकी कविता क्या कुछ कम चमचमा रही है?) अर्थ इत्यादि को तो अभी छोड कर केवल शब्दों के प्रयोग पर ध्यान दीजिए और बार बार उच्चारण करके कानों का सुख अनुभव कर लीजिए।

"लगा लगी लोइन करें, नाहक मन बँधि जाँहि"

"खिन खिन होति खरी खरी अरी जरी यह प्रीति"

इत्यादि

यदि इन पदों में लगा लगी, नाहक, खरी, जरी शब्दों को बदल दीजिए तो सब रस ही चला जायगा।

दूसरा महान् गुण इनकी भाषा में यह है कि एक एक शब्द एक एक पूरे चित्र² का बोध कराते हैं। और पाँच सात शब्द मिल के ऐसा रूप खडा कर देते है जो साधारणत शायद सहस्र

१ अँगरेजी भाषा के प्रसिद्ध लेखक Lord Macaulay (लार्ड मैकोले) ने प्रतिष्ठित कवि Milton (मिल्टन) के सबंध में यही कहा है— बिहारीलाल के लिए यह कथन बडा ही उपयुक्त है।

२ 'an entire picture—frame and all (पूरा चित्र चौखटे और सब कुछ)

शब्दों में भी पूर्ण रीति से वर्णित न हो सके। पढते समय कभी कभी ऐसा जान पडता है मानो कोई अपूर्व सिनेमा देख रहे हों। क्षण-मात्र में दृश्य पर दृश्य सामने से नेत्रों को सुख देते और हृदय को प्रफुल्लित करते चले जाते हैं। देखिए,

"भरत, ढरत, बूडत, तिरत, रहत, घरी, लौं नैन"।

"ज्यों ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन" ॥

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी, लुकाय।

सौंह करे, भौंहनि हँसे, देन कहे, नटि जाय" ॥—कहिए गागर में सागर भरा है अथवा नहीं?

तीसरा भारी गुण इनके शब्द-प्रयोग में यह है कि अनेकार्थी शब्दों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। शब्दों के भिन्न अर्थ से इन्होंने कैसा काम निकाला है, यह निम्नलिखित पद्यों से स्पष्ट है।

"जोग जुगुति सिखये सबै, मनो महा मुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन" ॥
"तो तन अवधि अनूप, रूप लग्यो सब जगत को।
मो दृग लागे रूप, दृगन लगी अति चटपटी" ॥
"तो पर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरवसी समान" ॥
"गुनी गुनी सब कोउ कहे निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते अर्क समान उदोत" ॥
"कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय"।
"भजन कह्यौ तासों भज्यो, भज्यो न एको बार।
दूर भजन जासो कह्यौ, सो तू भज्यो गँवार" ॥

उपर्युक्त पद्यों में "जोग" "कानन" "सेवत" "लगना" "उरवसी" "अर्क" "कनक" "भजना" के अर्थ पर ध्यान दीजिए।

"बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है[1] उतनी ही गहरी गूढ़ और गंभीर है।" (पं० पद्मसिंहशर्मा) इसके प्रमाण में यही लिखना पर्याप्त है कि सतसई की टीका पर टीका[2] लिखी गई और लिखी जा रही है, फिर भी सहृदय समाज को तृप्ति नहीं होती। किसी एक अर्थ को सुनिश्चय मानकर उससे सतुष्ट होना बहुत कठिन है। हिन्दी-साहित्य में केवल सतसई ही ऐसा ग्रंथ है जिसकी टीका संस्कृत भाषा में भी की गई है, हिन्दी में तो कुछ गिनती ही नहीं। कितनी ही टीकायें हो चुकीं। कोई सीधे-साधे अर्थ करता है। कोई चारों ओर शृंगार ही देख रहा है। किसी को वैद्यक ही की सूझी है। एक एक दोहे से एक एक नुसखा निकाल मारा है। किसी ने उसमें शांतरस ही ढूंढना शुरू किया है और "गहरे अध्यात्म भावों की उद्भावना की है।" स्मरण रहे कि बिहारी के टीकाकारों में बहुत बड़े-बड़े कवियों की भी संख्या है। हिन्दी नवरत्नों में से एक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को भी टीका करने का उत्साह हुआ। उन्होंने ७०, ८० दोहों पर कुंडलियाँ भी लगाईं। परन्तु इस कार्य को कदाचित् असाध्य

१ ग्रीयर्सन साहब लिखते हैं "I have never failed to find fresh pleasures in its study and fresh beauties in the dainty word colouring of the old master"

मुझे इसके अध्ययन में नवीन आनन्द और इस प्रवीण गुरु के सुन्दर शब्दरंजन में नवीन सौन्दर्य प्राप्त करने में कभी असफलता नहीं हुई है।

२ "Bihari's poems have been dealt with by innumerable commentators. Its difficulty and ingenuity are so great that it is called a veritable Akshara Kamdhenu" बिहारी की कविता पर अनेकानेक टीकाकारों ने टीकायें रची हैं यह इतनी कठिन और कौशल-पूर्ण है कि इसे वास्तविक अक्षर कामधेनु कहा गया है। ग्रीयर्सन।

समझ कर वहीं छोड़ दिया। बस इन्हीं बातों से इनकी गूढ़ता और गंभीरता समझ लीजिए।

साधारण रूप से देखने पर सतसई में तीन प्रकार के दोहे मिलते हैं (१) इस ग्रंथ का अधिकांश तो शृंगार-रस-सिंचित है, जिसमें नायक-नायिका का सौंदर्य, अंग प्रत्यंग की शोभा और आभूषणों की छटा वर्णित है[१]। फिर प्रेम क्रीडा और उससे उत्पन्न विविध भावों तथा दशाओं का वर्णन है। तत्पश्चात् विरह, मान, गर्व आदिक का चित्र खींच कर ऋतुओं इत्यादि का मनोहर रूप उतारा है (२) कुछ दोहे लोक-रीति तथा सामाजिक व्यवहारों के संबंध में हैं जो अति चातुर्य-पूर्ण और शिक्षा-प्रद हैं। (३) शेष ईश्वर-वन्दना, भक्ति और वैराग्य-संबंधी दोहे हैं। स्मरण रहे कि बिहारी ने स्वयं अपने दोहों को श्रेणीबद्ध नहीं किया था। ग्रंथ रूप में प्रकाशित करते समय विद्वानों ने अपना अपना क्रम चला लिया है। यहां पर केवल सुगमता के लिए ये भाग किये गये हैं, किसी प्राप्त प्रति में ऐसा विभाग नहीं मिलता। बिहारी की काव्य रचना का नियम ही कुछ भिन्न था। उन्होंने

---

१ बिहारीलाल पर एक यह दोष भी लगाया जाता है कि उन्होंने अधिकतर ऊपरी सौंदर्य (Superficial beauty) का वर्णन किया है और उनकी नायिकायें कामी नायकों के अनुरूप बनाई गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह समालोचना कुछ तो यथार्थ है और इसका मुख्य कारण यह है कि शृंगार-रस के कवि और काव्य-कला में प्रवीण कवि में कुछ न कुछ यह दोष होगा ही। किंतु यह सोचने की बात है कि जिस कवि ने प्रेम की प्रगाढ़ता, अनुराग की स्वाभाविकता, विरह की प्रचंडता, रीति-न्याय और धर्म की मर्यादा पूर्णरूप से दिखलाई हो उसको उक्त दोष से विशेष कलंकित कैसे किया जा सकता है।

ग्रंथ-निर्माण न करके पद-रचना की थी। एक एक दोहा अपने अपने विषय को पूर्णतया प्रकट करता है। दूसरे दोहों से न उसका संबंध है न उसे उनकी सहायता की आवश्यकता है। कवि को जिस समय कोई बात सूझी उसी समय उसने संपूर्ण भाव, दृश्य या चित्र इत्यादि को एक मनोहर दोहे में संगठित करके ठूँस ठूँस कर भर दिया, और पाठकों के लिए कवि-वाणी "अर्थ अमित अति आखर थोरे" के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण बना डाला। ऐसे पद्यों को, जो अकेले ही इतने अर्थ तथा-रस-पूर्ण होते हैं कि पाठकों को तृप्त कर देते हैं, "मुक्तक"[1] कहते हैं। ऐसा पद्य लिखना कितना कठिन है, यह स्पष्ट है।

---

१ ग्रीयर्सन साहब की राय में 'The lotus bloom of Indian verse is its lyric poetry' (भारतीय कविता का विकसित कमल इसका गीति काव्य है) इसमें भी "It is however in its detached verses—sonnets if I may use the expression—that the genius of Indian lyric poetry has reached its full perfection. These brief quatrains, miniatures each portraying by means of a few lines drawn by a masterhand little pictures complete alike in its nature and in its art coloured with all the richness which a copious and flexible language could give attracted the attention of Western admirers at an early stage of the intercourse between Europe and India (भावार्थ—मुक्तक छंदों में भारतीय गीति काव्य सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है। ये छोटे छोटे छंद प्रवीण हाथों से दो चार रेखाओं द्वारा खिंचे हुए चित्र हैं जो कला और भाव में पूर्ण है। जिनको एक सहजही कमनीय और शब्द-पूर्ण भाषा ने रंजित किया है। भारत और योरप के प्रथम समागम के समय इन छन्दों ने पाश्चात्य प्रशंसकों को आकर्षित किया।)

इस कठिन कार्य को बिहारी ने कितना सफलता-पूर्व्वक निबाहा है, इसका अनुमान केवल उनके दोहों के पढ़ने ही से हो सकता है। उनका प्रत्येक दोहा इस कथन का प्रमाण है। पूरा चित्र—वर्तमान दशा और पूर्व इतिहास सहित, अवस्था—कुल भावनाओं के साथ, वस्तु या दृश्य—पूर्ण निरीक्षण समेत वर्णन करना केवल एक छोटे से २८ मात्रा के छन्द में बिहारी ही के काव्य-कौशल से सम्भव हो सकता था। सतसई के संबंध में एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) में लिखा है —

"The Satsai is perhaps the most celebrated work of poetic art as distinguished from narrative and simpler styles Each couplet is independent and complete in itself and is a triumph of skill in compression of language, felicity of description and rhetorical artifice"

विवरणात्मक तथा अन्य सरल शैलियों को छोड़कर (केवल) काव्य-कला में सतसई शायद सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। प्रत्येक दोहा स्वतंत्र और स्वयं-पूर्ण है और भाषा संहति, वर्णन तथा अलंकार-चातुर्य में कौशल की चरम सीमा है। उदाहरणार्थ कुछ दोहों को पढ़िए।

"अजौं न आये सहज रंग, विरह दुबरे गात।
अबहीं कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥"
"कहत, नटत, रीझत खिझत, मिलत मिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नेनन ही सो बात॥"
"डर न टरे नींद न परे, हरै न काल विपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिरि, खरो विषम छबिछाक॥"

"केसरि कै सरि क्यों सके, चंपक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि, जात रूप को रूप॥
"भूषन भार सँभारि है, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न परत धर, सोभाही के भार॥"
"न जक धरत हरि हिय धरत नाजुक कमला बाल।
भजत भार भयभीत ह्वै घन चंदन बनमाल॥"
"या भव पारावार को उलँघि पार को जाय।
तिय छबि छाया ग्राहिनी गहै बीच ही आय॥"

यदि सत्य पूछिए तो बिहारीलाल के दोहे[1] उतने ही सार-गर्भित और रसपूर्ण हैं जितने सूरदास के पद अथवा तुलसीदास की चौपाइयाँ। ऐसे दोहे तो आज तक किसी ने लिखे नहीं। यद्यपि अनेक कवियों ने निष्फल अनुकरण किया है, और सतसई नाम के ग्रंथ भी बनाये हैं, किंतु, "कहाँ राजा भोज, कहाँ भोजवा तेली।" "चे निस्बत खाक रा बा आलमे पाक।" अब प्रत्येक विभाग पर ध्यान दीजिए।

(१) शृंगार-रस के दोहे—बिहारी ने कमाल कर दिया है। इस रस में उनको वही अन्य-कवि दुर्लभ पद प्राप्त है जो

१—कवि ने स्वयं लिखा है और यथार्थ लिखा है।

"सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत को छोटो लगें, घाव करें गंभीर॥"
"जो कोउ रस रीति को, समुझो चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई, कविता को सिंगार॥"
"भांति भांति के बहु अरथ, यामें गूढ़, अगूढ़।
जाहि सुने रस-रीति को, मन समुझत अति मूढ़॥"
"विविध नायिका भेद अरु, अलंकार नृपनीति।
पढ़ै बिहारी सतसइ, जानै कवि रस रीति॥"

महात्मा सूरदास को भक्तिरस में, गोसाईंजी को शांत रस में अथवा भूषण को वीर-रस में दिया गया है। शृंगार रस के कवियों में देव, केशव, मतिराम, दास, पद्माकर और तोप आदिक बहुत प्रसिद्ध हैं और टीका में प्रसंगानुसार तुलनार्थ इनके पद्य भी लिखे जायँगे। किन्तु, वास्तव में विहारी की उत्कृष्टता को ये लोग नहीं पहुँच सके हैं। इस संबंध में तीन चार बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जिनसे विहारी की उत्तमता स्वयं स्पष्ट है। एक तो ये "अलंकारों के बड़े उत्कट भक्त थे। एक एक दोहे में पाँच सात दस पंद्रह तक अलंकार मौजूद हैं।" (लाला भगवानदीन) टीका में इनका वर्णन किया जायगा। किन्तु, यह लिख देना आवश्यक जान पड़ता है कि इनकी उपमाएँ निःशंक अद्वितीयता का दम भर सकती हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पदों पर विचार कीजिए।

"मौ मन मोहन रूप मिलि, पानी में को लोन"
"जाके तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह सी होति"
"अरगट ही फानूस सी परगट होति लखाय"
"आली, बाढ़ै बिरह ज्यों पचाली को चीर"
"चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानो सुर-सरिता विमल, जल उछलत जुग मीन॥"
"सोहत ओढ़ै पीतु पट, श्याम सलौने गात।
मनौ नील मनि सैल पर, आतपु पर्‌यो प्रभात॥

"इन कवि ने अतिशयोक्ति में कलम तोड दी है।" विशेषकर कोमलता, उज्ज्वलता और विरह के वर्णनों में, इन महाकवि ने उपमाएँ (दो० ८, ६१, १५७, १६८ इ०) बड़ी ही अच्छी और अनोखी खोज खोज कर दी हैं तथा उत्प्रेक्षाएँ (दो० १६३, २१४ इ०) और रूपक (दो० ११,३७, ५८, १००, १०३ इ०) भी बड़े ही चोखे कहे हैं।

दूसरे चित्र उतारने में ये बड़े ही निपुण थे। नायिका-स्नान, केश व्यंजन, जूडा रचन इत्यादि चित्रों को पढ कर ज्ञात हो जाता है कि शब्दों और काव्य में कितना सामर्थ्य है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए। कृष्णजी राधिका-नयन शर से विद्ध होकर पृथ्वी तल पर अचेत पडे है। कवि ने कहा है—

"कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहुँ मुकुट बनमाल॥'

इतनी ही बात "रचना शिथिल" भाषा में सुन्दर कवि ने आठ पदों में वर्णन की है। देखिए कितना अंतर है। जरा "लड़ैते" का जोर देखिएगा—

"कहुँ बनमाल कहुँ गुञ्जन की माल कहुँ,
सग सखा ग्वाल ऐसे हास (ल) भूलि गये है।
कहुँ मोर चन्द्रिका लकुट कहुँ पीत पट,
मुरली मुकुट कहुँ न्यारे डारि दये है।
कुडल अडोल कहुँ सुन्दर न बोलें बोल,
लोचन अलोल मानो कहुँ हर लये हैं।
घूँघट की ओट ह्वै के चितयो कि चोट करी,
लालन तो लोट पोट तबहीं तें भये है" ।

नायिका स्नान का वर्णन देखिए कितना स्वाभाविक और मनोहर है —

"मुँह पखारि मुँडहारि भिजे सीस सजल कर छाय।
मौरि उँचे घूँटने तैं नारि सरोवर न्हाय॥
✓मुँह धोवति ऐंडी घॅसति हँसति अनँगवति तीर।
धँसति न इन्दीवरनयनि कालिन्दी के नीर॥"
"न्हाइ पहिरि पट भट कियो बेंदी मिस-परनाम"

"विहारी की दृष्टि संसार भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और यह महाशय अपने मतलब की बात खूब देख लेते थे।" (मिश्रबंधु)। मानव-जीवन का इनको इतना पूर्ण ज्ञान था और प्रत्येक भावना को तथा साधारण वस्तुओं के गूढ़ अर्थ को ये इतना समझते थे कि पाठक दंग होके रह जाता है। इन्होंने नागरी तथा ग्राम्य नायिकाओं का अच्छा वर्णन तो किया ही है। किन्तु, प्रसंगानुसार जिन वस्तुओं का वर्णन आया है उनसे कवि की अद्भुत निरीक्षण-शक्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। उपयुक्तता इनके उन विशेष गुणों में है जो इनको सर्वोच्च पद पर पहुँचाने का सामर्थ्य रखती है। "प्रकृति-निरीक्षण और उसके

"नेकु हँसौही बानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकति चौंध में, परत चौंधि सी डीठि॥"
"तिय कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिह भौंह कमान।
चल चित बेझै चुकति नहि, बंक विलोकनि बान॥"
"छुटे छुटावे जगत तें, सटकारे सुकुमार।
मन बाधत बेनी बँधे, नील छबीले बार॥"
दीठि न परत समान द्युति कनक कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात॥
"पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत यहिहेत।
दर्पन के से मोरचे, देह दिखाई देत॥
"मानहु बिधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोछन को किए, भूषन पायदाज॥"
"छाले परिबे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
झिझकति हिए गुलाब के, झँवा झँवायत पाय॥"
बरन बास सुकुमारता, सब बिधि रही समाय।
पखुरी लगी गुलाब की, लाल न जानी जाय॥

यथोचित वर्णन में ये कविवर भाषा साहित्य में सर्वश्रेष्ठ हैं।" (मिश्रबन्धु)। ५० पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं कि "विहारी का प्रकृति-पर्यवेक्षण बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। मानव-प्रकृति का उन्हें असाधारण ज्ञान था। इससे वे सचमुच पूरे पुरोहित थे" (दे० इनका षड्ऋतुवर्णन, तथा दो० १६४ और दो० १०५, १६६, १६१, १६२, १६७ इत्यादि)

कहीं कहीं इन्होंने ऐसे विचार और भाव प्रकट किये हैं कि "बड़े बड़े कवियों ने भी इनके सामने उनके लिए हाथ फैलाए हैं।"

"पिय के ध्यान गही गही, रही वही ह्वै नारि।
आप आप ही आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥"

पद्माकर ने कहा है "स्याम ही स्याम रही रटि कै, पुनि ह्वै गई मूरति नंदकिसोर की"

फिर "सायक सम घायक नयन, रँगे त्रिविध रँग गात।
झखो बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात॥"

दास लिखते हैं "कज्ज सकोच गडे रहें पक मैं मीनन बोरि दियो दह नीरन"

और "नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥"

दूलह कवि कहते हैं "छलकै चहूँधा अश्रुजल को प्रवाह पै न, नेकु विरहागिनि की तपनि बुझाय है"

अंत में "बाल काहि लाली भई, लोयन कोयन माँह।
लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाँह॥

देव ने भी कहा है "काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे।"

(२) विहारी को जगत-व्यवहार का कितना अनुभव था इन दोहों से साफ मालूम होता है। सरल दोहों में उन्होंने कितना चातुर्य भर दिया है। एक एक छोटे से दोहे के आधार पर शिक्षाप्रद पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। इन दोहों को पढते समय पाठक को कबीर, रहीम, गिरिधर आदि के पद्य स्मरण होने लगते हैं। कभी कभी तुलसीदास की चौपाइयाँ याद आ जाती हैं।

मरन प्यास पिंजरा पर्‌यो सुवा समय के फेर।
आदर दैदै बोलियत बायस बलि की बेर॥
जात जात वित्त होत है ज्यौं जिय में संतोष।
होत होत त्यौं होय तौ होय घरी में मोख॥
चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन को व्यौपार।
नहिं जानत या पुर बसत धोबी और कुम्हार॥

(३) भक्ति और शांत[1] रस को भी विहारीलाल ने नहीं छोडा है। यहाँ पर उन्होंने अधिकतर सूरदास की तरह कविता की है। श्रीकृष्ण की प्रार्थना, उनको ललकारना, प्रेम में लीन हो जाना इत्यादि सूर ही का सा है। कहीं कहीं तुलसीदास के ढग पर भी दोहे लिखे ह। दे० दो० २०६, २१३, २७३ इत्यादि।

पूरे ग्रंथ का अध्ययन करने पर स्पष्टरूप से विदित हो जाता है कि "पीयूषवर्षी कवि विहारीलाल" की गणना उन महाकवियों में होनी चाहिए जो सर्वोच्च पद के अधिकारी हैं। "शृंगाररस वर्णन, पदविन्यास, चातुर्य, माधुर्य, अर्थगांभीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि खास गुणों में वे अपना जोड नहीं रखते" (पं० पद्मसिंह शर्मा)। Encyclopædia Britannica (एन-

१—"यह जग काँचो काँच सो, मैं समुझ्यो निरधार।
प्रतिबिंबित लखियत जहाँ एकै रूप अपार।"

साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका) में सतसई को 'perhaps the most celebrated work of poetic art" "अर्थात् काव्य-कला में शायद सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ" की पदवी दी गई है। कविता-रचना में निपुण, रस, भाव, अलंकार इत्यादि में निपुण, प्रकृति निरीक्षण में निपुण कविवर बिहारीलाल बड़े भारी पंडित भी थे। इनके पांडित्य का परिचय सतसई के पाठकों को आपही मिल जाता है। "उनका संस्कृत साहित्य का पांडित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृत के महारथी कवियों के मुकाबले में उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है। संस्कृत पद्यों की छाया पर रचना करके नवीन चमत्कार लाकर उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है।" (पं० पद्मसिंह शर्मा)

इसके अतिरिक्त वे और कलाओं[१] में भी प्रवीण थे। "गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीति शास्त्र और दर्शनों में भी उनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था" (पं० पद्मसिंह शर्मा) लोगों के विश्वासों से भी वे भली भाँति परिचित थे।

हिन्दी-साहित्य में बिहारीलाल का स्थान

बिहारी-सतसई के दोष-गुण कथन के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि इसकी कविता किस श्रेणी में रक्खी जाय और इसका रचयिता कवि समूह में किस पद पर बैठाया

१—"कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतो उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यों, दाम रुपैया होत॥"
"कहत सबै बेंदी दिये, आंक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥"
"धूम मास सुनि सखिन सों, साईं चलन मलार।
गहि कर बीन प्रवीन तिय, राग्यो राग मलार॥"

जाय। प्रश्न तो अति सरल है किन्तु उत्तर बहुत ही कठिन। तथापि प्रत्येक विचारशील और काव्य-प्रिय पाठक को कम से कम अपने लिए तो इसका उत्तर देना ही पड़ेगा। अतएव दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—कविता की कसौटी तथा काव्य का मूल और अन्य कवियों की रचनाएँ।

काव्य की पूरी तथा यथोचित परिभाषा[1] देना तो प्राय असम्भव है किन्तु इस अवसर पर दो चार मुख्य मुख्य बातों पर विचार करने से काम निकल सकता है। सबसे पहले स्मरण रखना चाहिए कि कवि एक महान् निरीक्षक है। प्रकृति, संसार और जीवन की छोटी सी छोटी वस्तु को देखता हुआ वह हृदय की अँधेरी से अँधेरी अगम कोठरी को आकस्मिकोद्भव (inspiration) के प्रकाश से सदैव देखता रहता है। जब उसके असाधारण बाह्य तथा अंतर्दृष्टि के सामने कोई वस्तु आती है तो वह उसे देख देख कर आनंद लाभ करता हुआ उसका वर्णन करने की चेष्टा करता है।[2] तब उसका देखा हुआ चित्र शब्दों

१ अँगरेजी भाषा में काव्य को poetry (पोएट्री) कहते हैं। मौलिक अर्थ इस शब्द का है 'बनाना' 'रचना' अर्थात् नई सृष्टि करना। जान पड़ता है कि इसी अर्थ के अनुसार ऐरिस्टाटल Aristotle ने आविष्कार (invention) का काव्य का एक आवश्यक आधार समझा था। किंतु, यह विचार करने की बात है कि ग्रीक भाषा में काव्य-कला को 'रचना' कहने के पहले 'गाना' कहते थे। वस्तुत काव्य को संगीत कह सकते हैं। और संगीत ही नहीं काव्य को चित्र भी कह सकते हैं 'Poetry is a speaking picture and painting is a mute poetry'
काव्य एक बोलता हुआ चित्र है और चित्रकारी एक मूक काव्य है।

२ अँगरेजी के प्रसिद्ध लेखक कार्लाइल (Carlyle) ने कहा है कि

में प्रकट होता है। यदि कवि बहुत ही उच्च कोटि का हुआ तो उस दृश्य को पूर्णरूप से चित्रित करने में भाषा अपना असामर्थ्य स्वीकार कर लेती है। शब्द उस दृश्य के सामने नीचे गिर जाते हैं। उससे नीची श्रेणी के कवि के शब्द चित्र के समान रहते हैं। थोड़ा और नीचे आने पर शब्द ही बाजी मार ले जाते हैं। भाषा रूप में प्रकाशित हो जाने पर वही निरीक्षित तथा उपलब्ध दृश्य या भाव इत्यादि काव्य के नाम से प्रतिष्ठित होता है[१]।

जहाँ तक ज्ञान होता है सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी

कवि और ईश्वरदूत (prophet) दोनों ही विश्व के पवित्र रहस्य में प्रवेश किये हुए हैं और दोनों का उद्देश्य है कि हम लोगों पर उसको प्रकाशित करें। भेद यही है कि ईश्वरदूत नैतिक पक्ष (moral side) को बतलाता है (अर्थात क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए, क्या बुरा है और क्या भला है) और कवि सौंदर्य पक्ष (æsthetic side) को (अर्थात् क्या रुचिकर है, क्या सुंदर है, क्या प्रेय है इत्यादि को)

१ विचार प्रकट करने की दृष्टि से कविता तीन प्रकार की हो सकती है (१) जिसमें कवि स्वयं अपने विचार तथा अनुभव इत्यादि प्रकट करे—ऐसी कविता को अँगरेजी भाषा में (lyric) लिरिक कहते हैं और हिन्दी में गीतिकाव्य कह सकते हैं, क्योंकि प्राचीन यूनान में इस प्रकार का काव्य पहले पहल (lyre) लायर नामक बाजे पर गाया जाता था—(२)जिसमें कवि किसी अवस्था या परिस्थिति में किसी अन्य विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों के विचार, भाव इत्यादि प्रदर्शित करे। ऐसी कविता को अँगरेजी में (dramatic) ड्रैमेटिक कहते हैं, अर्थात नाट्य काव्य (३) जिसमें कवि इन दोनों के बीच में रहे—अर्थात् विशेष अवस्थाओं और परिस्थितियों में अन्य व्यक्तियों के विचार, भाव कार्य इत्यादि का चित्र कथारूप में खींचते हुए अपने विचारों को प्रकट करे

ने रामचरित-मानस में काव्य की जो परिभाषा की है वह सर्वोत्तम है। उन्होंने लिखा है।

"हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जो बरखइ बर बारि बिचारू, होंहि कवित मुकुता मणि चारू॥"

इन दो चौपाइयों में कविता का पूर्ण स्वरूप दे दिया गया है। भावार्थ इसका यह है कि जब एक अपरोक्ष शक्ति (आकस्मिकोद्भव) मति में सुन्दर विचार प्रवेश कराती है तब कविता की उत्पत्ति होती है। यह कविता अगाध विस्तृत हृदय में पड़ी रहती है। (ढूँढनेवाले ढूँढ लें और उसका उत्तम प्रयोग करें) इस परिभाषा से कविता का सार प्रकट हो जाता है। इससे सुगमतर और शुद्धतर परिभाषा मिलना अति कठिन है। विश्लेषण करने पर इसमें कविता के सभी तत्त्व दीख पड़ते हैं। पहले

और काव्य भर में उसी का विशेष दृष्टि-कोण दीख पड़े—ऐसी कविता को (epic) एपिक अर्थात् महाकाव्य कहते हैं।

भिन्न भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न भाषाओं में इन तीनों में से किसी एक या अधिक का प्राचुर्य तथा प्राबल्य रहता है। हिन्दी भाषा में प्रथम प्रकार की कविता अधिक और उच्चकोटि की है (दे० पृ० ८ पादटीका २), तीसरे प्रकार की कविता हैं तो बहुत उच्चकोटि की किंतु अधिक नहीं है—द्वितीय प्रकार की कविता का प्राय अभाव ही है।

कविवर बिहारीलाल प्रथम प्रकार की कविता के रचयिता थे—बहुत सी भाषाओं में ऐसा देखा जाता है कि नाट्यकाव्य और महाकाव्य के रचयिता ही सर्वोत्कृष्ट कवि समझे जाते हैं—हिन्दी में भी महाकाव्य रामचरितमानस प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास ही का स्थान सर्वोच्च है—किंतु गीतिकाव्य के कवियों का पद भी बहुत ऊँचा हो सकता है जैसे अँगरेजी के (Keats) कीट्स और (Shelley) शेली इत्यादि का है—बिहारीलाल भी बड़े उच्चकोटि के गीतिकाव्य रचयिता थे।

तो हृदय इसका स्थान है और हृदय ही में सभी भाव रहते हैं। फिर मति में इसकी उत्पत्ति है अर्थात् बुद्धि और विचार के स्थान से यह निकलती है। अतः उच्च कोटि की कविता के लिए प्रबल बुद्धि, उच्च मति और सारगर्भित विचार आवश्यक हैं। तीसरे, कविता हर एक आदमी किसी समय अथवा कोई एक आदमी हर समय नहीं बना सकता, क्योंकि स्वाती का जल हर स्थान पर अथवा किसी एक स्थान पर हर समय नहीं बरसता। चौथे, सब कुछ होते हुए भी एक दैवी शक्ति अर्थात् सरस्वती की आवश्यकता है। उसके बिना लाख प्रयत्न करने पर भी कविता नहीं बन सकती। साधारण भाषा में इस शक्ति के प्रभाव को आकस्मिकोद्भव कह सकते हैं। इस परिभाषा से अँगरेजी की कहावत सिद्ध होती है कि कवि उत्पन्न होता है बनाया नहीं जाता (a poet is born not made)। इस परिभाषा में एक गुण यह भी है कि कविता भाषा पर निर्भर नहीं की गई है—भाषा सरल हो अथवा कठिन, गद्य हो अथवा पद्य, और पद्य भी चाहे तुकांत हो अथवा अतुकांत, उसमें कविता पाई जा सकती है। यह और बात है कि कवियों ने प्रायः सर्वदा पद्य ही में कविता की है।

कविता की भाषा साधारणतः पद्य होती है। उच्च कोटि की कविता मधुर और हृदयग्राही होती है—माधुर्य कभी भाषा की सरलता, कभी उपयुक्तता, कभी स्वाभाविकता और कभी अलंकार इत्यादि पर निर्भर होता है।

इन बातों पर ध्यान रखते हुए बिहारी-सतसई के निर्माण कर्त्ता को महाकवियों के मध्य स्थान देने में कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती। अब उपर्युक्त कसौटी को सामने लाइए।

(१) निरीक्षण।

(क) प्रकृति, "He is perhaps at his best in his description of natural phenomena, as when he describes the scent laden breeze under the guise of a way-worn pilgrim from the south" *मिश्रबंधु भी लिखते हैं, "इनके प्राय सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। इनका षड्ऋतु-वर्णन, इनके काव्य की उत्कृष्टता का पूरा परिचय देता है।"

(ख) संसार, "विहारी की दृष्टि संसार भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी" (मिश्रबंधु) जगत् के वास्तविक स्वरूप और उसकी क्रीड़ाओं से विहारीलाल भली भाँति परिचित थे।

(ग) जीवन, विहारीलाल को मनुष्य-जीवन का कितना ज्ञान था सतसई का प्रत्येक दोहा बतला रहा है। स्त्री पुरुष का व्यवहार, सदाचार, दुराचार, प्रेम, लोभ, वैराग्य, भक्ति इत्यादि जीवन के प्रत्येक रूप का चित्र उन्होंने उतारा है।

(घ) हृदय कोठरी, यह कोठरी एक अति विशाल चित्रशाला है जिसमें साधारण दृष्टि से अगोचर नाना प्रकार के चित्र सृष्टिकर्ता ने रख छोड़े हैं। संसार के प्राय सभी महान पुरुष इसी अद्भुत और दुर्गम चित्रालय के किसी न किसी चित्र को लेकर प्रकाशित करते और अपने अपने ढंग से संसार का उपकार किया करते हैं। धर्म-प्रचारक, समाज-सुधारक, तत्त्व-विचारक, राजनैतिक नेता तथा अन्य पूजनीय जन सभी

* F. E. Keay in his Hindi literature के साहब कहते हैं—"इनका सर्वोत्कृष्ट वर्णन प्राकृतिक बातों का है। जैसे जब वह सौरभित समीर को दक्षिण से आते हुए थके यात्री के रूप में वर्णन करते हैं।"

विहारीलाल का दोहा दोहा नं० १६४ की टीका में दिया हुआ है।

इसी कोठरी में घूमते हैं। कभी कोई चित्र हाथ आगया तो प्रसन्न हो गये और साधारण मनुष्यों को दिखलाने लगे। कवि समाज भी इसी काम में लगा है। उसका ढग दूसरा है, परंतु वस्तु वही है। चित्रों का अपार आधिक्य देखकर कविता के आचार्यों ने कोठरी को कई खंडों में विभाजित कर दिया है। एक ओर प्रेम का स्थान है, एक ओर वीरता का, एक ओर हास्य का, एक ओर करुणा का, एक ओर प्रीति का, और एक ओर वैराग्य का इत्यादि। इन्हीं भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न रसों[1] का अनुभव होता है।

बिहारी मुख्यत शृंगाररस[2] के कवि हैं।

इनके अन्य रस सबन्धी दोहे भी उत्कृष्टता में बड़े से बड़े कवि की रचनाओं के सामने ठहर सकते हैं। किंतु शृंगार-रस के दोहे इनके अतुल्य से जान पडते हैं। शरीर की शोभा, सहज

---

१ रस का साधारण अर्थ स्वाद है, जैसे मीठा रस, खट्टा रस, इत्यादि। काव्य में भी यह एक प्रकार का स्वाद ही है। "पाठकों या दर्शकों को काव्यों अथवा अभिनयों में जो अनिर्वचनीय और लोकोत्तर आनद प्राप्त होता है साहित्य शास्त्र के अनुसार वही रस कहलाता है" (शब्दसागर) "रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य और निर्वेद इन नौ स्थायी भावों के अनुसार नवरस माने गये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, और शांत (शब्द सागर)। कुछ लोग 'शात' को निकाल कर आठ ही रस मानते हैं और कुछ 'वात्सल्य' को मिलाकर दस मानते हैं।

२ शृगार-रस को आदि अथवा आद्यरस भी कहते हैं। अनुराग इसका स्थायीभाव है। यह स्त्री पुरुष के बीच में परस्पर सभोगेच्छा-जनित भाव है (बगला भाषाअभिधान)

सौंदर्य तथा अलंकृत गात, प्रेम क्रीडा, और विरह इत्यादि का वर्णन अति हृदयग्राही है।

(२) आकस्मिकोद्भव, यह उच्च कोटि की कविता की एक मुख्य पहिचान है। इसी से किसी ने अँगरेजी में कहा भी है कि 'Poet is born not made' (कवि उत्पन्न होता है बनाया नहीं जाता) लेखनी और लेख पत्र लेकर बैठने ही से कविता नहीं बन जाती। आकस्मिकोद्भव तथा काव्यपूर्ण हृदय वा ईश्वर की प्रेरणा के बिना बिहारी-सतसई के दोहे नहीं लिखे जा सकते थे। दोहे नं० ३, ४, ४३, ५८, ६२, ८१, २०६, २११ इत्यादि के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि बिहारीलाल किस कोटि के कवि थे।

(३) अब भाषा की ओर ध्यान दीजिए। उच्च श्रेणी की कविता की भाषा मर्मभेदी होती है और थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ होता है। ये दोनों बातें बिहारी-सतसई में पूर्णरूप से पाई जाती हैं। यही कारण है कि सतसई इतनी कठिन हो गई है। इसका ठीक उल्था करना तो असंभव ही है। ग्रीयर्सन साहब लिखते हैं 'As any attempt of mine (at translation) would spoil the original by weakening its conciseness and by rounding off the polished corners of its many jewels, I shall not venture to give here any examples in English of its beauties" दोहा नं० ८०,१४६,१६० इत्यादि को देखिये।

---

१ (अनुवाद करने का) मेरा किसी प्रकार का प्रयत्न मूल की सहति को दुर्बल करके और उसकी अनेक मणियों के पैने हुए कोनों को बराबर करके उसको नष्ट कर देगा, अतः मैं अँगरेज़ी में इसकी सुंदरताओं का कोई उदाहरण देने का साहस न करूँगा।

दूसरा गुण भाषा की सरसता तथा शब्दों का मनोहर प्रयोग है। इसमें भी बिहारीलाल बहुत बढ़े-चढ़े है, ग्रीयर्सन साहेब लिखते है।

"The elegance, poetic flavour and ingenuity of expression in this difficult work are considered to have been unapproached by any other poet"[1] दूसरे स्थान पर "admirable polish and completeness of the whole"[2] की प्रशंसा करते है।

तीसरा गुण भाषा का अलंकार होता है। इस सबंध में भी बिहारीलाल का बड़ा उच्चस्थान है।

अब अन्य कवियों से बिहारीलाल की तुलना करनी है। साहित्य में शृंगार रस के कवियों में देव, मतिराम, केशव, तोष, दास, पद्माकर आदि प्रसिद्ध है। इनमें से हर एक के उदाहरण स्थान स्थान पर टीका में दिये गये है। इन छः महाकवियो में से अंतिम तीन[3] तो सर्वसम्मति

---

१ ऐसा समझा जाता है कि इस कठिन ग्रंथ के लालित्य, काव्य रस, और वर्णन-चातुर्य को कोई दूसरा कवि नहीं पहुँच सका है।

२ प्रशंसनीय चमत्कार और कुल की पूर्णता।

३ पद्माकर भट्ट (१७५३-१८३३ ई०) बाँदा के रहनेवाले थे। इनकी कविता में अनुप्रास बहुतायत से मिलता है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ जगद्विनोद है जो १८१० ई० में लिखा गया था। तोषनिधि, १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि, इलाहाबाद जिले के रहनेवाले थे। इनके एक ग्रंथ का नाम सुधानिधि है

भिखारीदास, जो १८ वीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध कायस्थ कवि थे, बुँदेलखँड के थे। किसी महाशय ने बिहारी और दास की तुलना करते हुए दास को बहुत उच्च स्थान दिया है (माधुरी—दिसम्बर १९२६)। वास्तव

से विहारी के नीचे है। रही बात प्रथम तीनों की। तीनों को बारी बारी देखा जाय। केशवदास (१५५५-१६१७ के साहेब लिखते हैं 'The poetry of Kesavdās is not easy reading, but there is no doubt of his being a poet of great skill and his name is to be reckoned among the foremost' (केशवदास की कविता पढ़ने में सहज नहीं है। किन्तु उनके एक बड़े कौशल-पूर्ण कवि होने में कोई संदेह नहीं और उनका नाम सर्वश्रेष्ठों में होना चाहिए) इनको मिश्रबंधु ने जॉन मिल्टन (John Milton) की पदवी दी है। केशवदास की कविता सराहनीय तो है किन्तु उसमें विहारी की स्वाभाविकता नहीं और न उनके जैसे मर्मभेदी पद ही हैं। केशव उतने ऊँचे नहीं पहुँच सके। हाँ वर्षा इत्यादि का वर्णन इनका अच्छा है, लिखते हैं—

"केसव पावस काल किधौं अविवेक महीपति की ठकुराई"।

में यह प्रशंसा यथार्थ नहीं ज्ञात होती, जैसा दोहों के अर्थ से प्रकट है (दे० दो० सं० १२, ६०, १२१)।

विक्रम साही (१७८५-१८२८) ने विहारीलाल का अनुकरण करके एक सतसई लिखी है। उसके भी उदाहरण इस पुस्तक में दिये गये है। विहारी और विक्रम में बड़ा अंतर है—

बाबू हरिश्चंद (१८५०-१८८४ ई०) ने भी बड़े उच्चकोटि की कविता की है, और इनकी भाषा सरस भी है। किन्तु इनके भावों में विहारी की गूढता तथा भाषा में उनका अर्थ-भंडार नहीं है। विद्यापति भी (१४ वीं १५ वीं शताब्दि) शृंगाररस के अच्छे कवि थे। किन्तु विहारी के नीचे ही उनका स्थान होगा।

सेनापति और रसखान भी हिन्दी के अच्छे कवियों में हैं किन्तु इनकी तुलना विहारी से नहीं हो सकती।

विहारी से अभी बहुत दूर हैं, कविप्रिया में लिखते हैं—

"कोमल अमल चल चीकने चिकुरचार
चितयेते चित चकचौंधि मत केशोदास।
सुनहु छबीली राधा छुटे ते छुवे छुवानि
कारे सटकारे हैं सुभाव ही सवा सुवास"

इत्यादि,

"मिलि-मालती की माल लाल डोरी गोरी गुहैं
वेणी पिक वेणी की त्रिवेणी सी बनाई हैं",

सरिता, सागर, लता, वृक्ष आदि का मिलना वर्णन करके

"इहि रीति रमन रमनीन सो रमन लगे मन भावने।
पिय गमन करन की को कहै गमन न सुनियत सावने"

रसिक प्रिया में लिखते हैं

"विन गुन तेरी आनि भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाच्छ बान यहे अचरजु आहि"—

केशवदास के ये बड़े ही उत्कृष्ट पद विहारी के दोहों के सामने तनिक भी नहीं ठहर सकते। न तो भाषा में वह माधुर्य है न थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ ही है और न वैसे भाव ही हैं। कहीं कहीं कुछ सादृश्य होने पर भी केशव की कविता विहारी के सामने नीरस लगती है।

सहज सचिक्कन स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि, विथुरे सुथरे बार॥
छुटे छुटावै जगत तें सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार॥
तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिह भौंह कमान।
चल चित बेझो चुकति नहिं बंक विलोकनि बान॥

मतिराम (१६१७-१७१६ ई० एक बड़े प्रसिद्ध कवि हो गये हैं, इनकी कविता बड़ी सरस तथा हृदय-ग्राही है। के साहेब ने लिखा है As a poet he is famed for the purity and sweetness of his language, the excellence of his similes, and for his descriptions of the dispositions of men"[१] इनके पद्य मधुर तथा भाव पूर्ण हैं और उपमायें भी अच्छी हैं, लिखते हैं।

' ता बन की बाट कोऊ संग ना सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है।"
"बिन देखे दुख के चलें, देखे सुख के जाहिं
कहो लाल इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिं।"
"पिय आयो नव बाल तन बाढ्यो हरष विलास
प्रथम वारि बूँदन उठै ज्यों वसुमती सुवास"
"नाह सनेह समुद्र मे बूडि जात सब दोष"

इत्यादि

भाषा की मधुरता में इनका निस्संदेह बड़ा उच्च स्थान है, और बिहारी की भाषा मधुर होते हुए भी अनेक स्थानों में मतिराम से हार मान जाती है। इसका एक कारण यह भी है कि मतिराम की भाषा सरल है। किन्तु साथ ही साथ उसमें बिहारी के बराबर अर्थ भी नहीं है, बिहारी के विरह-वर्णन तथा शरीर-शोभा-वर्णन के सामने मतिराम की कविता फीकी पड़ जाती है

(दे दो ७, २१, २६, ८३, ११४, १४१, १२६ इत्यादि)

एक बड़ा अंतर दोनों महाकवियों में यह है कि बिहारीलाल

---

१ कवि-रूप में वे भाषा की शुद्धता और मधुरता, उपमाओं की एता और मनुष्य के भावों के वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं।

किसी बात का स्वाभाविक रीति से कृत्रिमता के बिना वर्णन करते हैं। मतिराम ने बहुधा शब्दों के द्वारा तथा साज श्रृंगार की सहायता से अथवा कुछ मिला-जुला के चित्रों को प्रिय बना दिया है।[१] बिहारी के चित्र स्वयं संपूर्ण और सुहावने हैं।

उपमा[२] में बिहारी का सामना करने के लिए गोस्वामी तुलसी दास से नीचे पदवाले कवि को साहस नहीं होना चाहिए। बिहारी अलंकारों में बहुत ही बढ़े-चढ़े हैं, उनके एक एक पद में अनेक अलंकार भरे हैं, मानुषी प्रकृति का वर्णन भी मतिराम ने अच्छा किया है, किन्तु मनुष्य-हृदय में जितनी गहरी बिहारी की दृष्टि पहुँची है उतनी इनकी नहीं पहुँच सकी।

(दे० दो० १०७ के आगे)

मतिराम की प्रशंसा में यही कहा जा सकता है कि 'Many of his dohas are considered equal to those of Bihari Lal"[३] केवल इन्हीं की सतसई बिहारी-सतसई के निकट पहुँच सकती है। क्या यह कोई कम प्रशंसा है। तुलना के लिए मतिराम के ग्रंथों के कई पद टीका में दिये गये हैं। उनसे स्पष्ट हो जाता है कि मतिराम और बिहारी में बड़ा अन्तर है।

देवदत्त—(१६७३-१७४५ ई०) इटावा के रहनेवाले थे। के साहेब कहते हैं "In his handling of rhymes, his use of attributes his drawing of comparisons his knowledge

१ रसराज के नायिकाभेद तथा अभिसारिका वर्णन में अनेक उदाहरण मिलेंगे

२ दे० दो० सं० ८, ६१, १४०, १८८ इत्यादि।

३ "उनके बहुत से दोहे बिहारीलाल के दोहों के बराबर समझे जाते हैं"। अर्थात् बिहारी के दोहों से बढ़कर तो कोई है ही नहीं, उनमें कम बहुत से हैं।

of the sayings current amongst men, and his descriptions of heroines who represent women typical of various parts of India, he is considered to have shown the greatest skill ' (भावार्थ—पद्य-रचना में, विशेषणों के प्रयोग में, तुलनाएँ करने में, प्रचलित कहावतो के ज्ञान में और हिन्दुस्तान के भिन्न भिन्न देशों की स्त्रियों के वर्णन में इन्होंने सबसे अधिक कौशल दिखलाया है)। देव की भाषा बहुत ही मनोहर है। इसकी समता बिहारीलाल की भाषा भी नहीं कर सकती। इसमें एक कारण यह भी है कि देव ने बहुत से मधुर छंदों का प्रयोग किया है। बिहारी ने केवल दोहा ही दोहा लिखा। और फिर देव ने बहुत से ग्रंथ भी बनाये हैं। बिहारी की केवल सतसई ही है। देव की कविता का उदाहरण देखिए।

"रंगराती हरी हहराती लता,
झुकि जाती समीर के झूकन सों"
"आई बरसाने ते बोलाई वृषभानुसुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई"
"पतिव्रतव्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पानों"
"सोहति चूनरि स्याम किसोरी की,
गोरी गुमान भरी गजगोनी"

इत्यादि

मिश्रबंधु लिखते हैं—

"किसी अन्य कवि की कविता में इतने अनुप्रास और यमक तो हैं ही नहीं, प्राय इतने बढ़िया भाव भी नहीं पाये जाते।"

अब देव के गुणों की बिहारी के गुणों से तुलना कीजिए। देव जीते भाषा के माधुर्य में, बिहारी जीते उसकी

संहृति (Conciseness) और अभिव्यंजन (Suggestiveness) में। अब वर्णन पर ध्यान दीजिए। जहाँ विहारी ने केवल सेतसारी ही से काम लेकर आभूषणों को पायदान बना रखा है, शरीर के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन किया है और अधिकतर थोड़े शब्दों में हृदय के गूढ़ भावों को दर्शाने का प्रयत्न किया है वहाँ देवजी ने नायिका को सुसज्जित, आभूषित करके एक कृत्रिम रंग चढ़ा दिया है और पदों में मनोहरता पैदा कर दी है। लिखते हैं "मोतिन की झालरें झमक झुम कारी लागी इन्दिरा मन्दिर दुति देव कँदरप सी" दूसरी विशेष बात देव में यह है कि वह देश देश की स्त्रियों का बहुतही अच्छा और यथार्थ वर्णन करते हैं। इसमें इनकी निरीक्षण शक्ति अवश्य प्रमाणित होती है। किंतु बिहारी की आदर्श नायिका कोई और ही चीज है। इसमें सन्देह नहीं कि देव की कविदृष्टि चारों ओर बहुत दूर तक जाती है। किंतु विहारी के बराबर गहरी नहीं जाती। निम्न लिखित पदों को विहारी के उन्हीं संबंध के दोहों के साथ पढ़ने से प्रतीत हो जाता है कि बिहारी का काव्य एक ऊँचे पर्वत की चोटी पर है और देव का काव्य उसके नीचे हरे भरे सुहावने मैदान पर है।

"देखि न परत देव देखि देखि परी जानि देखि देखि दूनी दिख साध उपजति है," "देखे बिना दिखसाधनहीं मरै देखुरी देखतहूँ न अघयै" भ० वि०

"जेठी बर्टीन में बैठी वह उत
पीठि दिये पिय डीठि सकोचन।
आरसि की मुदरी दृग दे, पिय को
प्रति बिम्ब लखै दुख मोचन।" भ० वि०
"कल न परति कहूँ ललन चलन कहाँ,
विरह दवा सो देह दहकै दहक दहक। भ० वि०

'गाथा सप्तशती' और गोवर्धनाचार्यप्रणीत 'आर्यसप्तशती' "ये दोनों ही अपने अपने रूप में निराली और अद्वितीय हैं। सदा से सहृदयों के हृदय का हार रही हैं" किन्तु पंडित पद्मसिंह शर्मा ने उदाहरण सहित सिद्ध किया है कि बिहारी सतसई का पद सर्वोच्च है। हिन्दी साहित्य में भी अनेक सप्तशतियाँ हैं, किन्तु उनमें दो बहुत प्रसिद्ध हैं—तुलसी सतसई और मतिराम सतसई। रहीम और विक्रम ने भी सतसइयाँ लिखी हैं, पढ़ने पर ज्ञात हो जाता है कि बिहारी-सतसई की बात ही कुछ और है।

बिहारी-सतसई है तो सतसई किन्तु ठीक सात ही सौ दोहे इसमें नहीं हैं। निश्चित रूप से उनकी संख्या नहीं बतलाई जा सकती। आजमशाही सग्रह में ७२६ दोहे हैं। मिश्रबंधुओं ने भी यही माना है। परन्तु मानसिंह की टीका और अन्य प्रतियों के आधार पर श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर ने ७१३ ही दोहों की टीका की है। कुछ लोग ७२६ से भी अधिक और कुछ ७१३ से भी कम मानते हैं।

इस पुस्तक में केवल २७४ दोहे हैं, इनका पाठ प्राय सर्वत्र बिहारी रत्नाकर से लिया गया है। किन्तु पाठान्तर भी कहीं कहीं दिखलाये गये हैं। इनका क्रम उपर्युक्त (पृ० २४) विभागों पर निर्धारित है। अर्थ किये हुए दोहों के अतिरिक्त जो दोहे लिखे गये हैं, वे बहुधा लाला भगवानदीन की बिहारी-बोधिनी के पाठ के अनुसार हैं। पाठान्तर में स्मरणीय है कि रत्नाकरजी ने बहुधा 'इ' दिया है जहाँ 'य' भी चल सकता है। (जैसे सोय अथवा सोइ) कुछ शब्दों को उकारान्त कर दिया है जहाँ अकारान्त भी पर्याप्त है। जैसे स्यामु और स्याम, और कुछ क्रियाओं में पैं तथा औं लिखा है जहाँ प तथा औ भी ठीक है। जैसे परैं और परे, अथवा कौं और को।

मेरी* भव-बाधा हरौ, राधा[1] नागरि[2] सोइ।
जा तन की झाँई[3] परैं, स्याम हरित-दुति[4] होइ ॥१॥

---

*"यह दोहा बिहारी की प्रतिभा का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है" (बिहारी-रत्नाकर) सतसई ऐसे ग्रंथ के लिए कितना उपयुक्त दोहा है। मतिराम ने भी अपनी सतसई के मंगलाचरण में राधा ही की वन्दना की है। लिखते हैं।

मो मन तम-तो महि हरौ, राधा को मुख चन्द।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं, नँद नंदन आनन्द॥ —देखिए

कितना अन्तर है, टीकाकारों ने बिहारी के उक्त दोहे के अनेक अर्थ निकाले हैं। झाँई शब्द से परछाँही, झलक और ध्यान का, स्याम शब्द से कृष्ण और श्याम रंग वस्तु पातक इत्यादि और हरित दुति से हरे रंगवाला, हरा भरा और हतद्युति का अर्थ निकाल कर कई तरह से टीका की है। इन अर्थों से बिहारी का काव्य-कौशल ही प्रकट होता है। एक महाशय ने राधा, नागरि, सोय से सोंठ, नागरमोथा, सोया का मतलब समझ कर इस दोहे को बदन पर झाँई पड़न से श्याम अर्थात् पित्ती की दवाई का नुसखा कहा है।

१ राधा = जिसकी आराधना की जाय (राध = आराधना, साधन, अ स्त्रीप्रत्यय), ह्लादिनी शक्ति, (वैष्णवतंत्र) आनन्ददायिनी शक्तिमती (रज = आनन्द देना, ध = धारण करनेवाला)

२ नागरि = नगर निवासिनी वा चतुर, निपुण स्त्री। यह शब्द उसी तरह निकला है जैसे अँगरेजी में citizen, civil, politic इ० शब्द निकले हैं।

३ झाँई = (छाया से) = परछाहीं, छाहीं, झलक और ध्यान का अर्थ भी हो सकता है।

४ हरितद्युति = हरी गई हो द्युति (दीप्ति, शोभा) जिसकी (बहुव्रीहि समास) हरा भरा (प्रफुल्लित गात) और हरे रंग का अर्थ भी हो सकता है।

अर्थ—जिनके (गौर) शरीर की परछाईं पडने से (सहज सुन्दर) श्रीकृष्ण भी तेजहीन, शोभारहित हो जाते हैं वही नागरि राधिका मेरी सांसारिक बाधाओं[1] को दूर करो (या करें)—

[इस दोहे के बहुत से अर्थ हो सकते हैं। और एक से एक बढ कर। किन्तु उक्त अर्थ सबसे अधिक जँचता है और प्रसंगानुसार है। "हरौं" शब्द के आ जाने से 'हरित' का अर्थ "हरा गया, हृत" करना कवि के शब्दप्रयोग की उत्कृष्टता दिखलाता है। यदि यह अर्थ न करें तो हरने की शक्ति ढूँढनी पड़ेगी।

कृष्ण, जो सौंदर्यस्वरूप हैं, राधिका के सामने फीके पड जाते हैं, उनकी श्यामता इनकी गोराई के सामने छिप जाती है। ऐसी राधा बाधाओं की कालिमा को तुरन्त ही दूर कर देंगी। राधा को नागरि कहना भी ऐसे ही अर्थ के साथ ठीक हो सकता है। स्मरण रहे कि राधिका की परछाईं में कृष्ण के छिप जाने की बात बिहारी ने एक दोहे में कही भी है।

"मिलि परछाहीं जोन्ह सों, रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही, चले गली में जात॥"

एक और कवि ने कहा है—

"गर्व करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
आपन रूप निहारहु सिय कै छाँह॥
(तुलसी)

1 जीवन के अनेक विघ्न, विशेषत जो सतसई निर्माण में कठिनाइयाँ उपस्थित करें।

यों भी अर्थ कर सकते है, "जिसके झाईं-मात्र से श्रीकृष्ण हरे भरे (प्रफुल्लित) हो जाते हैं वा हरे रंग के हो जाते हैं (नील में पीत रंग मिलने से हरा हो जाता है) वह नागरि राधा मेरी भवबाधा हरो वा हरे]

अलंकार = काव्यलिंग, (उत्तरार्द्ध की युक्ति बाधा हरने की बात का समर्थन करती है) भिन्न भिन्न अर्थ करके हेतुक अलंकार और अत्युक्ति भी कह सकते हैं।

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली उरमाल।

इहि बानक[1] मो मन सदा, बसौ विहारीलाल[2] ॥२॥

अर्थ—हे आनन्द केलि करनेवाले मेरे प्यारे (श्रीकृष्ण) तुम सदा मेरे मन अर्थात् हृदय में ऐसा रूप (गोपवेष) धारण करके वास करो जिसमें सिर पर मुकुट (अर्थात् मोर मुकुट) कमर में जांघिया, हाथ में बाँसुरी, और उर पर माल (अर्थात् वनमाल) हो। [हृदय में वास करने की प्रार्थना अपने आराध्य देव से विशेषत श्रीरामचन्द्र और कृष्ण से अनेक कवियों ने की है। मतिराम ने इसी प्रकार एक दोहा बनाया है।

"मुंज गुंज के हार उर, मुकुट मोर पर पुंज।
कुंजबिहारी बिहरिये, मेरेई मन-कुंज ॥"—देखिए बिहारी से कितना नीचे रह गये हैं। एक तो उतनी बात भी नहीं कही दूसरे शब्दों का माधुर्य भी कम हो गया। और बिहारी का

---

१ बानक वा बानिक (बनना वा बनाना से) = बनाव, रूप, वेष "बानिक तैसी बनी न बनावत" केशव

२ बिहारी = विहार (क्रीडा इत्यादि) करनेवाले। लाल = प्यारा, लाल, लला, लली, ललना (लाडला, लाड़ली) कितने मनोहर शब्द हैं। नँदलाल = कृष्ण, वृषभानुलली = राधा।

कचिन्त देखिए, 'मोर', 'गुंज' इत्यादि को स्पष्ट लिखा नहीं क्योंकि 'काछनी' और 'मुरली' के साथ यह आप ही समझ लिया जायगा। 'विहारीलाल' और 'कुंजविहारी' में कितना अंतर है। सूरदास और तुलसीदास ने भी ऐसी प्रार्थना की है।

अलंकार—स्वभावोक्ति (पूर्वार्द्ध में कृष्ण का स्वाभाविक वर्णन) पहले पद में चारों बहुव्रीहि समास हैं।

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज केलि-निकुंज[1]-मग, पग पग होत प्रयाग[2]॥३॥

अर्थ—(हे मन! अथवा तीर्थाटनप्रिय मनुष्य!) तू तीर्थों को त्यागकर हरि (अर्थात् श्रीकृष्ण) और राधिका के तन की कान्ति में प्रेम करो जिस (तनदुति या उससे अनुराग) के कारण ब्रज के केलिनिकुंजों (अर्थात् श्रीकृष्ण आदि के क्रीडा स्थानों) के मार्ग में पग पग पर प्रयाग, (अर्थात् वह स्थान जो तीर्थों का राजा है) हो जाता है।

[गौर वर्ण राधिका गंगा, श्याम वर्ण कृष्ण यमुना में अनुराग सरस्वती होने से प्रयाग का फल प्राप्त हो सकता है।]

अलंकार—काव्यलिंग (तीरथ छोड़ने का समर्थन उत्तरार्द्ध की युक्ति से होता है) उल्लास (राधा कृष्ण के गुण से ब्रज का गुण) तद्गुण (ब्रज भूमि प्रयाग हो गई है)

---

१ निकुंज = लतागृह, बगीचे के भीतर लताओं से आच्छादित मंडप।

२ प्रयाग = तीर्थराज, जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम है। [प्र + याग, जहाँ विशेष रूप से वा बहुत यज्ञ हुए हों]

मोहन-मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति[1] जोइ[2] ।
बसतु सु चित-अंतर तऊ, प्रति बिम्बित[3] जग होइ ॥४॥

*अर्थ—मोहिनी मूर्तिवाले श्रीकृष्ण की अति अनोखी गति या रीति को देखो कि (वह) हृदय के भीतर बसते हुए भी संसार में प्रतिबिम्बित हैं। अर्थात् बसते हैं अंदर और उनकी छाया पड़ती है सारे संसार में बाहर, भक्त-जनों को समस्त जगत् प्रभु-मय दिखाई देता है। ("सियाराम मय सब जग जानी")—[मोहन-मूरति इसलिए कहा है कि जिसके हृदय में वह बसते हैं उनको चारों ओर बस वही वही दिखाई देते हैं]

अलंकार—तीसरी विभावना (भीतर बस कर भी बाहर प्रतिबिम्बित होना, प्रतिबंध व्यर्थ हो गया)

मोर-मुकुट कि चंद्रिकनु,[4] यौं राजत नँदनंद ।
मनु ससिसेखर[5] की अकस[6], किय सेखर सत चंद ॥५॥

---

१ गति = चाल, रीति, व्यवस्था, दशा ।

२ जोइ = देखो, जोहना = राह देखना, ताकना, देखना ।

३ प्रतिबिम्ब = छाया, अक्स, प्रतिबिम्बित होना = उसका छाया पड़ना, ।

*यह भी अर्थ हो सकता है—स्याम की मोहिनी मूर्ति की अद्भुत गति देखो जो बसती (बसति) तो

४ चन्द्रिकनु = चन्द्रिकाओं से। मोरपंख के चन्द्राकार चमकीले चिह्नों को चन्द्रक कहते हैं। चन्द्रिका चन्द्रक का स्त्रीलिंग।

५ ससि = शशि, चंद्रमा, सेखर = शेखर, मस्तक, जिसके मस्तक पर चन्द्रमा हो (शिवजी) वह ससिसेखर है। बहुव्रीहिसमास

६ अकस (अरबीभाषा से आया है) स्पर्धा, छाया, ईर्ष्या, बैर ।

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ, स्यामु सुभग सिर मौरु[1] ।
बिन हूँ उन* छिनु गहि रहतु, दृगनु अजौं वह ठौरु ॥९॥

अर्थ—जिस जिस स्थान पर परम सुन्दर कृष्ण को खड़े देखा था वहाँ अब उनकी अनुपस्थिति में भी वह स्थान ही आँखों को कुछ समय के लिए पकड़ रखता है। अर्थात् खड़े हुए नँदलाल का रूप स्मरण होने पर वह स्थान भी अति रमणीय, नेत्राकर्षक प्रतीत होता है। [प्रेम का प्रभाव देखिए। भरतजी का प्रेम स्मरण कीजिए। जिन जिन स्थानों पर श्रीरामचन्द्रजी वन जाते समय ठहरे थे उनको देख देख कर भरतजी की आँखों में प्रेम जल भर आता था]।

अलंकार,-विभावना (उनके रहे बिना भी स्थान आकर्षक है। कारण बिना कार्य होना) और स्मरण।

मिलि परछाँहीं जोन्ह सौं, रहे दुहुनु के गात।
हरि राधा इक संग हीं, चले गली महिं जात ॥१०॥

अर्थ—श्रीकृष्ण और राधा एक साथ गली में जाते हुए रात्रि समय परछाहीं और चाँदनी में मिल गये थे। अर्थात् राधिकाजी का गौर शरीर चन्द्रिका में और कृष्णजी का श्याम शरीर राधिका की परछाहीं में ऐसा मिल गया था कि जान नहीं पड़ता था [केवल छाया ही दीख पड़ती थी। उसके भीतर श्याम रंग कृष्ण लुप्त हो गये थे और जिसकी छाया थी वह चाँदनी में लुप्त थी]

१ सुभग सिरमौर = भाग्यवानों (यहाँ पर रूपवानों) में शिरोमणि (सु + भग, अच्छे भाग्य वा ऐश्वर्यवाला, सुंदर। सिर = शिर, मौर = मउर, मउड़, मुकुट)

* उनहूँ बिन ।

अलङ्कार = मीलित (चाँदनी में गधा का और छाया में कृष्ण का मिल जाना)

वन तन कौं निकसत[1] लसत, हँसत हँसत इत आइ।
दृगखंजन[2] गहि लै चल्यौ,* चितवनि चैंपु[3] लगाइ ॥११॥

अर्थ—वन की ओर निकलते समय (अर्थात् गायें चराने के लिए वन जाते समय, गोपाल) शोभा देते हुए हँसते-हँसते इस (अर्थात् मेरी) ओर आकर मेरे नेत्र-खजनों को अपनी चितवन का लासा लगाकर पकड़ ले चले (अर्थात् मेरे नेत्र आसक्त हो गये ?) रूपक बाँधना देखिए । और विलक्षणता पर ध्यान दीजिए । नायक चुपचाप दूर पर नहीं वरन् हँसते हँसते लासा लगाता है । ये खजन जंगल के नहीं हैं । इनको उलटे नगर से पकड़ कर वन को ले चलना है । यह तो "चितवनि चैंपु" हुआ । अब "बस रचि चूरन" की करनी सुनिए ।

"बस रुचि चूरन डारि कै, ठग लगाय निज साथ ।
रह्यौ राखि हठ ले गयो, हथा हथी मन हाथ ॥"

---

१ निकसत क्रिया का कर्ता कौन है ? उक्त अर्थ में नायक है । किन्तु नायिका भी हो सकती है । तब अर्थ यों करना होगा "ज्यों ही मैं बाहर निकली (प्रातःकाल को भीतर से द्वार पर आई) त्यों ही वन की ओर जाते हुए शोभा देते वा क्रीड़ा करते इस ओर आकर "

२ खजन = पक्षीविशेष, खंडरिच, खंडरिच ।

* गयो

३ चैंपु = लासा ।

देव कवि लिखते हैं।

"देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि हि बूड़ि गई पँखिया, अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी॥"

प्रेमचंद्रिका

अलंकार = रूपक

चितु-वितु* [१] बचतु न हरत हठि, लालन दृग बरजोर† [२]
सावधान के बटपरा [३], ए जागत के चोर॥ ९२॥

---

१ चित + वित = चित्तरूपी धन।

२ बरजोर = बलवान्, जबरदस्त, बरजोरी या बलजोरी = बलात्कार, अक्सर बोलते हैं।

३ बटपरा = बाट (रास्ते) में पड़नेवाला, डाकू।

* "लाल तिहारे दृगन की, हाल कही नहिं जाय,
सावधान रहिये तऊ चितवित लेत चुराय"

[काव्यनिर्णय]

† शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक मर्चेंट आफ़ वेनिस में पोशिया बसैनियो से कहती है।

Beshrew your eyes,
They have overlooked me and divided me,
One half of me is yours, the other half yours,—
Mine own, I would say, but if mine, then yours,
And so all yours!

अर्थ—श्रीकृष्ण के बलवान नेत्रों से चित्तरूपी धन बचने नहीं पाता, इसको हठ-पूर्वक हर लेते है। अर्थात् मैं विवश हो जाती हूँ। मेरा मन मेरे अधिकार में नहीं रह जाता। ये दिन दहाड़े जागते हुओं की चोरी करनेवाले सजग साव धान लोगों पर डाका डाल के उनको लूट लेते हैं [ये ऐसे चोर हैं जो सोनेवालों की चोरी कर ही नहीं सकते] ये तो डाकू हैं और जो अपने को चतुर समझते हैं उनके लिये ठग हैं। कवि ने कहा भी है—

"जात सयान अयान ह्वै वै ठग काहि ठग न।
को ललचाय न लाल के लखि ललचौहैं नैन॥"

जैसे हो सकता है चोरी करके, डाका डाल के, ठग के वैसे ये नेत्र मन हरण कर लेते हैं। एक समालोचक महाशय यह नहीं समझ सके हैं कि चोर और डाकू दोनों कैसे लिखा गया। क्योंकि डकैती तो बलात्कार छीन लेने को कहते हैं। अत उनको यह एक दोष प्रतीत हुआ है, जिससे दास कवि मुक्त है। वास्तव में इसे दोष कहना भूल है। कृष्ण के नेत्रों की यही विलक्षणता है कि वे चोर और डाकू दोनों हैं। नायिका के कोटि प्रयत्न करने पर भी उसका हृदय डाकू के हाथ पड़ ही जाता है। और सब के जागते हुए भी इस गुप्त रीति से हृदय चोरी चला जाता है कि चोर के घर पहुँच जाने ही पर पता लग सकता है कि धन कहाँ गया। यही चोरी की चरम सीमा है। यहाँ पर थोड़े लिखने और अधिक समझने की बात है। जैसा मिल्टन ने कहा है। "Where more is meant than meets the ear" (जितना सुनाई देता है अर्थ उससे अधिक है)

अलंकार तीसरी विभावना (सावधान तथा जागते रहने पर भी चोरी हो जाना—कार्य-विरुद्ध कारण से)।

सुरति न ताल[1] न[*] तान की उठ्यौ न सुरु ठहराइ।
एरी राग बिगारि गौ बैरी बोल सुनाइ ॥ १३ ॥

अर्थ—हे सखी मुझे ताल और तान की सुधि न रही। उठाया हुआ (अलापा, आरम्भ किया) सुर भी नहीं ठहरता (जमता, कारण इसका यह है कि) बैरी (नायक) अपनी बोली सुना कर मेरा राग बिगाड़ गया। [प्रियतम की बोली सुनने से नायिका को स्वर-भंग हो गया। राग बिगड़ गया। सखियों के मध्य में गाते हुए उसको इस प्रकार बेसुरी करनेवाला उसका बैरी हुआ।' रचना देखिए—जितना ही प्रेम अधिक है उतना ही नायक अधिक बैरी है। राग और गाने के साथ बोली का प्रयोग देखिए। साधारण बोली का रस कान में पड़ने से उस प्रवीणा का सरस राग ही गायब हो गया।]

अलंकार = काव्यलिंग। (सुर न ठहराने का समर्थन बैरी की बोली द्वारा राग बिगड़ने से होता है।)

---

१ ताल = संगीत में काल और क्रिया का परिमाण, जिसे सूचित करने के लिए ताली, तबले, ढोल इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत ग्रन्थों में मार्ग (जो संख्या में ६० हैं) और देशी (जो १२० हैं) दो ताल माने गये हैं।

२ तान = लय का विस्तार, आलाप, स्वरों से उत्पन्न ४९ तान माने गये हैं। (मुहाविरे में ताल देना, ताल तोड़ना इ० बोलते हैं।)

अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ[1] हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ* गेह ॥ १४ ॥

अर्थ—उस (नायिका) का शरीर दीपसिखा (दिया की लौ) के समान है इससे उसके अंग अंग के (आभूषणों के) नग (अर्थात् रत्न) जगमग जगमग कर रहे हैं। इसलिए दिया बुझा देने पर भी सारे भवन में उजियारी छाई रहती है। [जिस प्रकार किसी घर में रक्खे हुए बहुत से दर्पणों में एक ही दीपशिखा का प्रतिबिंब पड़ने से बड़ी चमक आ जाती है और बहुत उजेला फैल जाता है उसी प्रकार नायिका का शरीर रत्नजटित आभूषणों में प्रतिबिंबित होकर अत्यंत प्रकाश किये है। ऐसी ही दीपशिखा सी देह के लिए कवि ने कहा है—

"सघन कुंज घनघन तिमिर अधिक अँधेरी राति।
तऊ न दुरि हैं स्याम वह दीपसिखा सी जाति॥"]

अलंकार = दूसरा 'पूर्वरूप' द्वितीय चरण में धर्मलुप्ता उपमा (देह की दीपसिखा से, धर्म-उज्ज्वल लुप्त है)

अंग अंग प्रतिबिंब परि दरपन सैं सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूपन जाने जात ॥ १५ ॥

अर्थ—एक एक आभूषण के अनेक प्रतिबिंब (उस नायिका के) दर्पण सरीखे निर्मल शरीर पर पड़ने से ऐसा जान

---

१ बढ़ाए = बुझाये। (शिष्ट प्रयोग)। बढ़ाने का प्रयोग दुकान के लिए भी होता है। दुकान बढ़ाना = दुकान बंद कर देना, उठा लेना।

* देवकवि लिखते हैं—"आरसी से अंबर में आभा सी उज्यारी लगे, प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चन्द" फिर घर में उजाला क्यों न हो।

पड़ता है कि दुहरा तिहरा चौहरा भूषण है। [अथवा एक अंग दूसरे अंगों में प्रतिबिंबित होता है। अतः प्रत्येक अंग के दर्पण होने से बीच में पड़े आभूषण अनेक बार प्रतिबिंबित और प्रति प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसे ही स्वच्छ दर्पण से शरीर के संबंध में कवि ने एक स्थान पर कहा है—

"करत मलिन आछी छबिहिं हरत जु सहज विकास।
अंगराग अंगन लग्यो ज्यों आरसी उसास॥"]

अलंकार = धर्मलुप्ता उपमा (गात के दर्पण से, धर्म-उज्ज्वल लुप्त है।)

कंचन* तन धन[1] बरन वर रह्यौ रंगु मिलि रंग।
जानी जाति सुवास ही केसरि[2] लाई अंग॥ १६॥

अर्थ—(उस नायिका के) सोने के समान पीले श्रेष्ठ रङ्ग-वाले शरीर में लगाई हुई केसर का रंग उसके साथ ऐसा मिल गया है कि वह रंग से पहचानी नहीं जा सकती। वह केवल अपनी सुगंधि ही से जानी जाती है। (अथवा उसकी

१—धन (संस्कृत धनी) = स्त्री, नायिका ("नूपुर पायँ उठे झननाय सु जाय लगी धन धाय झरोखे" देव)। कंचन तन धन बरन वर = कंचन तन नायिका का श्रेष्ठ रंग। 'घन' रखने पर अर्थ होगा = कंचन तन (वाली नायिका) का घना श्रेष्ठ रंग।

२—केसरि, केसर = फूलों के बीच में बाल की तरह की पतली सींक, एक प्रकार के फूल की केसर जिसके छोटे छोटे पौधे और पतली पतली पत्तियाँ होती हैं। केसर का रंग देखने में गहरा लाल होता है। किन्तु पीसने पर पीला हो जाता है।

*—मतिराम लिखते हैं "बिरी अधर, अंजन नयन, मेंहदी पग अरु पानि। तन कंचन के आभरण, नीठि परे पहिचानि"।

महक उस सुगंधित शरीर की अपनी सुगंध जान पड़ता है। अर्थात् नायिका का शरीर केसर से कम सुगंधित नहीं है अत यह लगाई हुई केसर न तो रंग ही से जान पड़ती है न सुगंध ही से।) [केसर की तो यह दशा रही। अब कंचन तन पर सोने के आभूषणों की दशा सुनिए :—

"दीठि न परत समान दुति कनक कनक से गात,
भूषन कर करकस लगत परस पिछाने जात"।

इसी प्रकार उज्ज्वल शरीर का वर्णन यों किया है —

"ह्वै कपूर मणिमय रही मिलि तन दुति मुकुतालि,
छिन छिन खरी विचच्छनौ लखति छुवाय तिनु आलि"]

अलंकार-उन्मीलित तथा मीलित

केसरि कै सरि[1] क्यौं सकै चंपकु[2] कितकु अनूपु[3]।
गातरूप लखि जात दुरि जातरूप[4] कौ रूपु॥ १७॥

अर्थ —(नायिका के शरीर की शोभा और सुन्दरता ऐसी है कि) केसर (इतना पीत वर्ण और सुगंधित होते हुए भी) उसकी

१—सरि = बराबरी, सादृश्य "वाकी सरि जुवती कोउ नाहीं" सू० दा०

२—चंपक = चम्पा, एक वृक्ष होता है जिसके फूल बड़े सुन्दर हलके पीले रंग के होते हैं जिनमें बड़ी तीव्र सुगंध होती है। चम्पे की लकड़ी बड़ी चमकीली होती है।

३—अनूपु = भाषा में अनूप अनुपम के अर्थ में प्रयोग होता है। संस्कृत में इसका अर्थ जलप्राय अथवा पानीवाला, आवदार है।

४—जातरूपु = जो जन्म ही से रूपवान् (सुन्दर) हो, सुवर्ण।

रावरी क्या कर सकती है और चंपा (उसके सामने) कितनी सुन्दर अथवा आवदार है—उस शरीर के रूप को देखकर तो (जन्म ही से सहज-सुंदर) सुवर्ण का रूप भी छिप गया है (अर्थात्) बराबरी में नहीं ठहर सकता। [इस पीत वर्ण स्वरूप के वर्णन की तुलना उज्ज्वल शरीर के वर्णन से कीजिए। लिखते हैं—

"कहा कुमुद कह कौमुदी कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखे आँखि ऊजरी होति॥"]

अलंकार—चतुर्थ प्रतीप (केसर, चंपा और जातरूप उपमान गातरूप उपमेय की समानता नहीं कर सकते)

जुवति जोन्ह मे मिलि* गई, नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कै डोरै लगी, अली चली सँग जाइ॥ १८॥

अर्थ—तरुणी नायिका (रात्रि समय रास्ता चलते हुए) चाँदनी में ऐसी मिल गई है कि लखाई नहीं देती (दीख नहीं पड़ती) अत साथ चलती हुई सखी केवल उसकी सुगंध के सहारे (डोरी लग के) चली जाती है। [सौंधे के डोरै लगी पर ध्यान दीजिए। प्रकाश तथा गंध इत्यादि के तार होते हैं जो वायु-द्वारा प्रसरित होकर गोचर होते हैं। नायिका के द्युति के तार तो चन्द्रिका के तारों में मिल गये हैं। जिससे वह दृष्टिगोचर नहीं होने पाती। किन्तु उसकी सुगंध के तार (डोर) किसी में मिले नहीं। इसलिए सखी उसी के सहारे (अथवा सुगंध का लालची भ्रमर वा भ्रमर सी सखी) लगी चली जा रही है। डोर और अली शब्दों की उपयुक्तता देखिए]

---

*देखिए दोहा नं० १०

अलकार उन्मीलित

तूँ रहि हौं ही सखि लखौं चढि न अटा बलि बाल।
सबहिनु बिनु हीं ससि उदै दीजतु[1] अरघु अकाल ॥१९॥

अर्थ. (गणेश चौथ, माघवदी ४, का व्रत किये हुए नायिका अर्घ देने के लिए चन्द्र-दर्शन की अभिलाषा से अटारी पर चढ़ना चाहती है। सखी उसका श्रम बचाने के निमित्त सीधे न कहकर उसके रूप की प्रशंसा करके रोकती है—कहती है) हे सखी तुम रहो, मैं ही देख आऊँ (कि चन्द्रोदय अभी हुआ कि नहीं) हे (ससिबदनी) बाला मैं बलि जाऊँ तू अटारी पर न चढ़ (क्योंकि) बिना चद्रमा निकले ही (तुझे देखकर चन्द्रोदय के भ्रम से) सभी (स्त्रियों) द्वारा बेसमय अर्घ दिया जायगा (या दिया जाता है) अथवा सभी अर्घ देंगी (या देती हैं) [बेसमय अर्घ देना दूषित है। इस दोष का भागी नायिका हो जायगी इसलिए उसे रुकना पड़ता है। देखिए—ससिबदनी और चन्द्रमुखी अनेक कवियों ने कहा है। परंतु इस दोहे का चमत्कार ही कुछ और है। फिर देखिए—चन्द्रोदय हो जाने पर जब यह नायिका दर्शन को आयगी तो सब स्त्रियाँ घबडा जायँगी कि आज पूर्ण चन्द्रमा कहाँ से आया।

१—इस शब्द को मिश्रबन्धु ने "असमर्थ" कहा है। वास्तव में यदि इसका कर्ता (कर्तृवाच्य वाक्य करके) सबहिनु करें तो यह सत्य है। किन्तु कर्मवाच्य वाक्य करके अरघु को इसका कर्ता और सबहिनु का अर्थ सबही द्वारा करें तो शब्द समर्थ है। बिहारीबोधिनी के पाठ (सब ही बिनु ससि ही उदै दहैं) में कोई बखेड़ा नहीं है।

उनको सावधान करने के लिए नायिका का तुरंत नीचे उतर आना आवश्यक है। इसलिए सखी कहती है।

"दियो अर्घ नीचे चलौ संकट भानै जाय।
सुचिती ह्वै औरो सबै ससिहिं विलोकै आय॥"]

अलंकार. पर्यायोक्ति (व्यगं से रूप की प्रशंसा)

रही लटू[1] ह्वै लाल हौ लखि* वह बाल अनूप[2]।
कितौ मिठास† दयौ दई[3] इतैं सलोनै[4] रूप ॥ २० ॥

अर्थ —हे लाल मैं उस अनुपम बाला (युवती, नायिका) को देखकर लट्टू हो रही हूँ (उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गई हूँ) ईश्वर ने इतने सलोने (लवणयुक्त, सुंदर) रूप में कितनी मिठास (माधुर्य) दी है [सलोने शब्द का प्रयोग देखिए—सलोने रूप में मिठास कहां से आई? थोड़े लवण रहने पर अधिक मिठाई डालने से पदार्थ मधुर हो जाता है। इस नायिका के रूप में इतना

१—लटू होना = रीझ जाना, आसक्त होना (रूप, प्रेम, चाह इ० में मग्न होकर लट्टू सरीखे नाचने लगना। इसी से अर्थ निकला जान पड़ता है)

२—अनूप (दे० दो० १७)

३—दइ = ईश्वर—ईश्वर के अर्थ में दई, दईव, दइवा इ० सब शब्दों का प्रयोग होता है—दैव शब्द का अपभ्रंश।

४—सलोने = लवणयुक्त, लावण्ययुक्त, नमक भरा हुआ, सुन्दर।

*अँगरेजी कवि बर्न्स लिखता है "To see her is to love her An' love but her for ever"

† "वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाइ"

(मतिराम)

लवण (दूसरा अर्थ लावण्य) होने पर न जाने कि
की आवश्यकता हुई होगी। ईश्वर ने अमित मिठास
किस प्रकार माधुर्य का आधिक्य दिखलाया है।]

अलकार, विरोधाभास (माधुर्य और लावण्य।)

त्यों त्यों प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ
सगुन सलोने रूप की जु[1] न चखतृषा[2] बुझाइ॥

अर्थ —(तेरे वा उसके) सगुन (अपने गुण से
अपना प्रभाव दिखलानेवाले) सलोने (लवणयुक्त, लावण्
रूप के दर्शन की इच्छारूपी प्यास जो नहीं बुझती इस कार
(मेरे नेत्र) जितने ही अघा अघा कर उसको पीते हैं अ
उसको देखते हैं उतने ही प्यासे रह जाते हैं। [लवणयुक्त
पीने से प्यास नहीं बुझती, वरन् बढ़ती ही जाती है। सलो
रूप की भी यही दशा है। उससे भी दर्शकों की प्यास न
बुझती। यहाँ सगुन शब्द का प्रयोग देखिए। गुणयुक्त, गु
एक ओर तो लुनाई (सुंदरता) है दूसरी ओर लवण (खारीपन
ऐसे लोयन सागर (खारा समुद्र अथवा लावण्यसिंधु) शरीर
का दूसरा वर्णन सुनिए कितना सार्थक और मनोहर है। "लीनेहु
साहस सहस कीने जतन हजार, लोयन लोयन सिंधु तन पैरि
न पावत पार" इसकी उपमा और इसका चित्र देखिए—विद्या

1—जु = जो—यहाँ पर कारणसूचक है। अत क्योंकि भी अर्थ हो
सकता है। विहारी के कम शब्द प्रयोग के आधार पर दूसरे चरण का अर्थ
भी कर सकते हैं उसमे जो का साधारण अर्थ है "सलोन रूप की प्यास
नहीं बुझती तो स्पष्ट है कि रूप सगुण है" अथवा सचमुच सलोना
लोन का गुण रखता है।

2—चखतृपा = आँखों की प्यास, दिखसाध, दर्शनलालसा।

पति कहते हैं "जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल"]

अलंकार विशेषोक्ति (पीने से भी प्यास न बुझना)

लिखन बैठि जाकी सबी[1] गहि गहि गरब[2] गरूर[2] ।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर[3] ॥२२॥

अर्थ.—(यह सुंदरी नायिका ऐसी है) जिसका चित्र खींचने के लिए घमंड से भर भर कर बैठ संसार के कितने चतुर चित्र कार मूढ (बेवकूफ) नहीं बने ? अर्थात् अनेकों प्रवीण* चित्रकार उसकी तसवीर उतारने बैठे परन्तु उसके सौंदर्य के आधिक्य तथा शोभा की प्रतिक्षण वृद्धि के कारण यथार्थ चित्र न उतार सके । उनकी सारी चतुराई भूल गई

१—सबी = अरबी शब्द शबीह से है जिसका अर्थ तसवीर या यथार्थ चित्र है ।

२—गरब गरूर, दोनो का अर्थ घमंड या अहङ्कार है । एक ही अर्थ के दो शब्द भाषा में एक साथ बहुधा प्रयोग होते हैं । जैसे भाई बिरादर, यार दोस्त, गली कूचा, हवा बयार ।

३—कूर = टेढा, विकृति बुद्धिवाला, बेवकूफ अथवा "अकर्मण्य जिसका किया कुछ न हो सके, सुस्त, निकम्मा" "तहाँ सूरन उछाह कूर कादर डरत हैं" तुलसी । फारसी शब्द कोर = अंधा से भी इसका अर्थ हो सकता है ।

*शृंगार सतसती में लिखा है ।

"सगरब गरब खिंचे सदा चतुर चितेरे आय ।
पर वाकी बाँकी अदा नेकु न खींची जाय" ॥

अलकार विशेषोक्ति, वक्रोक्ति

भूषन भार* सँभारि है क्यों इहिँ तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर[1] परैं सोभा ही कैं भार ॥२३॥

अर्थ —(भला) यह सुकुमार शरीर आभूषणों का बोझ कैसे सँभाल सकेगा जब शोभा ही के भार के मारे पैर पृथ्वी पर सीधे नहीं पड़ते [एक ही दोहे में शोभा का आधिक्य, रूपवती स्त्री की चाल, सुकुमारता तथा आभूषणों की अनावश्यकता किस मनोहर रूप में वर्णित है।]

अलकार काकु वक्रोक्ति

न जकु धरत हरि हिय धरैं नाजुक कमला बाल।
भजत भार भयभीत ह्वै घनु चदनु वनमाल ॥२४॥

अर्थ —हरि (श्रीकृष्ण) घन (कपूर), चन्दन और घनमाला को धारण करते हुए (भजत = भोगते या सेवन करते हुए) चैन नहीं धरते (पाते) क्योंकि सुकुमार लक्ष्मी सरीखी बाला (कोमलागना) को हृदय में धारण करने से भयभीत हैं कि कहीं इन वस्तुओं का भार उस हृदय-निवासिनी सुकुमारी पर न पड़ने पाये। [इस दोहे के अनेक अर्थ निकाले गये हैं। जक = चैन, डर, सूम, हरि = नायक, श्रीकृष्ण, विष्णु, नाजुक कमलाबाल =

[1]—धर = धरा, पृथ्वी।

*"नथुनी गजमुकुतान की लसति चारु सिगार।
जनि पहिरै सुकुमार तन और आभरन भार॥" मतिराम
"चलत लक लचकत सकति न अग सम्हार।
भार डरनि सुकुमार वह धरत न उर पर हार" ॥ विक्रम
"नाजुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो"। अस्थर

सुकुमार, कोमलगात नायिका, लक्ष्मी सरीखी वाला, लक्ष्मी, भजत=भोग करते, भजन करते, त्याग करते, भार=बोझा, भाड, वनमाल=फूलों इत्यादि की माला, गुलाबजल का समूह— इन अर्थों को मिला जुला कर सौकुमार्य, विरहव्याकुलता, भक्ति, वैराग्य, धनासक्तता इत्यादि का अनेक भाँति वर्णन किया है— हमारे वैद्यजी को भी ऐसे अर्थबाहुल्य में कोई अच्छा नुसखा अवश्य ही मिला होगा]

अलंकार—सबधातिशयोक्ति

अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार ।
चुवत सुरँग[1] रँगु सी मनौ चपि बिछियनु[2] कै भार ॥२५॥

अर्थ —(उस) यौवना की लाल लाल पादांगुलियाँ अति सुकुमार हैं (ऐसा जान पडता है) मानों बिछियों के भार से दब कर चूते हुए ईंगुर के रङ्ग (की बूँदों) सी हो गई हैं [द्विज कवि लिखते हैं "रूप चुवै चपि कंचन नूपुर कौल से पायन नौल बहू के, अगन रंग मनौ निचुरे पिय संग धरे मग में पग द्वै के"]

अलंकार सिद्धास्पद (दबने से लाल हो जाना) हेतूत्प्रेक्षा

छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियैं गुलाब कैं झँवा[3] झँवैयत पाइ ॥२६॥

१—सुरग=लाल, ईंगुर, आलक्तक, अच्छा रग।

२—बिछिया=पैर की उँगलियों में पहनने का एक आभूषण होता है (विच्छू+इया)

३—झँवा=झावा (संस्कृत झामक) मैल छुड़ाने के लिए (विशेषतः पैर की) वस्तुविशेष जो मिट्टी आदि की बनी होती है (जली हुई ईंट) ; झँवाना, झँवा से पैर रगड़वाना।

अर्थ —(नाइन जो नायिका का पैर मलने अर्थात् साफ करने आई है वह) छाले पड़ जाने के डर से (इन कोमल पदों को अपने कठोर) हाथ से नहीं छूती (इसलिए वे) पेर झझकते (हिचकिचाते, डरते) हृदय से गुलाब के झँवा से मले जाते हैं [यह तो पैरों की कोमलता है । शरीर कितना सुकुमार है कहा नहीं जा सकता। वह तो गुलाब लगने से खुरच ही जायगा । जैसा कवि ने कहा भी है "पंखुरी लगे गुलाब की परि है गात खरौंट"]

अलंकार सबंधातिशयोक्ति (हाथ और गुलाब में अयोग्यता)

सोहत अँगुठा पाइ कै अनवट[1] जर्यौ[2] जराइ[3]।
जीत्यौ तरिवन[*] [3] दुति सु ढरि[4] पर्यौ तरनि[5] मनु पाइ ॥२७॥

१—अनवट = पैर के अंगूठे में पहनने का गोलाकार आभूषण विशेष, एक प्रकार का छल्ला (अगुष्ट से संबंध है)।

२—जर्यो = जड़ा हुआ, जराय = जड़ाव अर्थात् नगों का जड़ाव।

३—तरिवन = तरौना, ताटक, कर्णफूल।

४—ढरि = ढरकर, गिरकर, झुककर वा दीन होकर।

५—तरनि = सूर्य।

*कान में पहनने का यह एक आभूषण है। इसकी द्युति का वर्णन भी यों किया है। अब झिलमिली (पत्ता) के झलकन का वर्णन सुनिए।

"झीने पट में झिलमिली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु में लसत सपल्लव डार॥"

कपड़े की उपमा सिंधु, गंगा, तथा यमुना से बिहारी ने बहुत खूबी से की है।

अर्थ—(नायिका के) पैर के अँगुठे पर का (अथवा उसका अँगूठा पाकर) नगों के जड़ाव से जड़ा हुआ अनवट ऐसा शोभायमान है मानो (प्रकाशमान) सूर्य (नायिका के कानों के) कर्णफूल की चमक से हार कर उसके पैरों पर गिर पड़ा हो। [देखिए कर्णफूल और अनवट दोनों की शोभा एक ही बात से कैसे वर्णन की है। कर्णफूल में बीच के गोलाकार घेरे से चारों ओर दौड़ती हुई किरण समान लकीरें सूर्य को हराने में अवश्य समर्थ होंगी। अनवट भी गोल आकृति का होता है। सूर्य से उपमा दी जा सकती है। कवि की पहुँच देखिए]

अलंकार सिद्धास्पद (हार कर पैरों पर पड़ना) हेतूत्प्रेक्षा

अजौं तरयौना हीं[1] रह्यौ श्रुति[2] सेवत इकरंग।
नाक[3] बास वेसरि[4] लह्यौ बसि मुकुतनु[5] कैं संग ॥२८॥

अर्थ—(तरौना) एक ढंग से (बराबर) कानों का सेवन करता हुआ आज तक तरौनाही रहा (अर्थात् नीचे या, अनुच्चस्थान में ही रहा,) (और) बेसरि ने मोतियों के संग बस कर नाक-वास प्राप्त किया वह नाक (अर्थात् वदन के अग्र भाग को प्राप्त हुई) [साधु-समाज में इस दोहे के और ही अर्थ किये जाते हैं—सर्वदा वेदों का सेवन करता हुआ भी मनुष्य आज

१—तरयौना हीं = (१) ताटक ही, (२) अधोवर्ती (३) तरयौ नाहीं।

२—श्रुति = (१) कान, (२) वेद।

३—नाक = (१) घ्राणेन्द्रिय, (२) स्वर्ग।

४—बेसरि = (१) नकबेसरि, नाक का आभूषण विशेष, (२) बेसरी (पुँल्लिङ्ग बेसर = खच्चर), महाअधम।

५—मुकुतन = (१) मोतियों, (२) मुक्त-जनो।

तक अधोवर्ती ही रहा अथवा आज तक तरा नहीं (तर्यौ नाहीं) और महा अधम जीव भी मुक्तों (जीवनमुक्त महात्माओं) के साथ रह कर स्वर्ग में वास करने लगे] इस दोहे से प्रतीत होता है कि वैष्णव काल के अन्य कवियो की तरह विहारीलाल सत्संगति के प्रभाव को सर्वोच्च मानते हैं—तुलसीदास लिखते हैं ।

मति कीरति गति भूति भलाई, जब जेहि यत्न जहाँ जेहि पाई ।
सो जानब सत्सग प्रभाऊ, लोकहु वेद न आन उपाऊ ।
शठ सुधरहिं सतसगति पाई, पारस परसि कुधातु सुहाई ।

अलकार —श्लेष (तर्यौना इ०), मुद्रा ।

मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिवैं काज ।
दृग पग पोंछन कौं करे[+] भूषन पायदाज[१] ॥२९॥

अर्थ —(उस सुंदरी के शरीर पर जो आभूषण हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो विधाता ने उस शरीर की अच्छी छवि को निर्मल रखने के निमित्त नेत्रपगो के पोंछने के लिए उन्हें पायदाज बनाया हो (ताकि आँखें जब छवि की ओर चलें तो पहले अपने पैरों को पोंछ लें जिससे धूल इत्यादि जो लगी हो सो छूट जाय ।) [इस दोहे की बारीकी देखिए एक तो उपमा कितनी सुन्दर है । दूसरे 'loveliness needs no ornament' * (सुंदरता को

+ पा० किये ।

१ पायदाज = (फ़ारसी शब्द) पैर रखने की चीज, टाट इत्यादि जिस पर पैर पोंछ के तब बिछौने पर जाया जाता है—ताकि बिछौना मैला न हो ।

* इस पर भी एक दोहा कहा है—उसकी मनोहरता देखिए ।

"तन भूषन अजन दृगनि पगन महावर रग ।
नहि सोभा को साज ये कहिबे ही को अग ॥"

आभूषणों की आवश्यकता नहीं।) का समर्थन करते हुए भी आभूषणों की उपयोगिता कैसी दिखलाई है—तीसरे आभूषणों की अप्रशंसा के बहाने उनकी छवि का वर्णन किया है—आँखें पैर पोंछने वहाँ ठहर जाती हैं—अर्थात् उनमें भी ऐसी मनोहरता है कि नेत्र को आकर्षित होना पड़ता है—और वहाँ जाके ये स्वच्छ पवित्र हो जाती हैं।]

अलंकार, हेतूत्प्रेक्षा

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे¹ देह दिखाई देत ॥३०॥

अर्थ—(हे सहज सुन्दरी!) तू सोने के … मत … क्योंकि (इस कारण यह कहने में आता है कि) दरपन के सरीखे (ये) दिखलाई देते हैं (अर्थात् सर्वाङ्ग सुन्दरी के पर जहाँ जहाँ गहने पड़े हैं वहाँ की सहज द्युति छिप जाने … मान होता है कि शीशे पर मोरचा लग गया है) [… के से निर्मल गात पर कोई भी वस्तु जो अति … छविहारिनी सी लगेगी। केसर चन्दनादि लेपन के … कहा भी है।

"करत मलिन आछी छविहिं हरत जु सहज …
अगराग अगन लग्यो ज्यों आरसी उसास …

… जो लोहे पर

1—मोरचा—

वस्तु शोभा बढ़ा सकती है अथवा कम से कम मलिन होने से बचा सकती है तो वह श्वेत सारी* ही है—आगे देखिए]

अलंकार पूर्णोपमा। विषम

सहज[1] सेत पँचतोरिया[2] पहिरत अति छबि होति।
जलचादर[3] के दीप लौं जगमगाति तन जोति ॥३१॥

अर्थ—सामान्य (बिना फूल बूटे इत्यादि के अथवा सहज ही में) श्वेत पँचतोलिया सारी पहनने से अति शोभा होती है

---

*सेत सारी ही सो सब सौतें रँगी स्याम रंग, सेत सारी ही में स्याम रँगे लाल रंग में" मतिराम।

१—सहज = (१) सामान्य, बिना फूलबूटे के, (२) सहज ही में। यह शब्द अँगरेजी के (natural) (स्वाभाविक, प्राकृतिक) शब्द के विविध अर्थों में प्रयोग होता है। एक 'जो स्वाभाविक हो', 'जिसमें कृत्रिम मिलावट न हो,' 'जो प्राकृतिक हो,' 'जो साधारण हो', इत्यादि—जैसे—"सहज सुन्दर सावरो,"—(तुलसीदास) "भजो न आयो सहज रङ्ग"। (बिहारी) "सहज सेत " "सहज स्वभाव छुआ छल नाहीं" (तुलसीदास)

२—पँचतोरिया = पँचतोलिया (पाँच तोले का), एक प्रकार की अति हल्की बारीक रेशमी सारी जो तोल में केवल पाँच तोले की होती है।

३—जलचादर, ऊपर से गिरते हुए (जैसे फव्वारा से) जल की चादर। राजाओं के बाग इत्यादि में जल का विस्तृत प्रवाह गिराया जाता था और उसके पीछे दीपक रख दिये जाते थे जिससे रात्रि समय जगमगाती हुई दीपावली गिरते हुए जल के बारीक निर्मल चादर के पीछे अति शोभा देती थी। ऐसे ही शोभायमान दीप को "जलचादर के दीप" कहा गया है।

आभूषणो की आवश्यकता नहीं।) का समर्थन करते हुए भी आभूषणो की उपयोगिता कैसी दिखलाई है—तीसरे आभूषणों की अप्रशंसा के बहाने उनकी छवि का वर्णन किया है—आँखें पैर पोंछने वहाँ ठहर जाती हे—अर्थात् उनमें भी ऐसी मनोहरता है कि नेत्र को आकर्षित होना पडता है—और वहाँ जाके ये स्वच्छ पवित्र हो जाती हैं]

अलंकार, हेतूत्प्रेक्षा

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत ।
दरपन के से मोरचे[1] देह दिखाई देत ॥३०॥

अर्थ—(हे सहज सुन्दरी !) तू सोने के आभूषण मत पहन—क्योंकि (इस कारण यह कहने में आता है कि) दरपन के मोरचे सरीखे (ये) दिखलाई देते हैं (अर्थात् सर्वाङ्ग सुन्दरी के शरीर पर जहाँ जहाँ गहने पड़े हैं वहाँ की सहज द्युति छिप जाने से अनुमान होता है कि शीशे पर मोरचा लग गया है) [ऐसे दर्पण के से निर्मल गात पर कोई भी वस्तु जो अति उज्ज्वल न हो छविहारिनी सी लगेगी। केसर चन्दनादि लेपन के लिए कवि ने कहा भी है।

"करत मलिन आछी छविहिं हरत जु सहज विकास।
अंगराग अगन लग्यो ज्यों आरसी उसास॥"—यदि कोई

१—मोरचा = (फारसी शब्द) जग जो लोहे पर नमी के कारण लग जाता है। प्राचीन समय में दर्पण लोहे में बनाया जाता था—काच पर भी लोहे के संसर्ग से मोरचा लग जाना सम्भव है। शीशे पर जमी हुई मैल ;"जग लगि हिय दरपन रहै कपट मोरचा छाइ"—(रसनिधि)

का आड़ा टीकारूपी बृहस्पति (और गौर वर्ण) मुखरूपी चन्द्रमा को एक (ही) नारी (स्त्री-रूपी नाड़ी) ने एक संग प्राप्त करके लोचनरूपी संसार को रसमय (रसपूर्ण वा जलमय) कर दिया। ('जलमय' दोनों अर्थों के लिए उपयुक्त हो सकता है। नेत्र भी अनुराग से अश्रुमय हो जाते हैं) [मंगल का रङ्ग लाल और बृहस्पति का पीला माना जाता है। उपमा को तथा ज्योतिष के सिद्धान्त का घटित होना देखिए। तीनों उपर्युक्त ग्रहों के एक ही नाड़ी में आजाने से जगद्व्यापिनी वृष्टि होती है। यथा —

एकनाडीसमारूढौ चंद्रमाधरणीसुतौ।
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही॥
(नरपतिजयचर्या० अध्या० ३, श्लो० २६)

साधारण हिंदी टीका दिये सम्मिवदनी का वर्णन देखिए]*

*उक्त सोरठा और आगे के कई दोहों के साथ सूरदास का चित्र पढ़िए।
"प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की सुषमा कहहु विचारि,
मानहु फनिक रह्यो पीवन को ससिमुख सुधानिहारि।
बरनै कहा सीस सेंदुर को बवि जु रह्यो पचिहारि,
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर विदारि।
भ्रुकुटी विकट निकट नैनन के राजत अति वर नारि,
मनहु मदन जग जीति जेर करि राख्यो धनुष उतारि।
ता बिच बनी आड़ केसरि की दीन्ही सखिन सँवारि,
मानौ बँधी इन्दु मंडल मैं रूप सुधा की पारि।
चपल नैन नासा बिच सोभा अधर सुरंग सुढारि,
मनौ मध्य खंजन सुक बैठ्यो लुब्ध्यो बिंबबिचारि।
तीउन सुघर अधर नक बेसरि चिबुक चारु रुचि कारि,
कंठसिरी दुलरी तिलरी पर नहिं उपमा कहुँ चारि।
× × × × ×
'सूर' रसिक तबहीं पै बनिहौ मुरली सकहु सम्हारि।"

(उस नायिका की छवि बहुत हो जाती है और उसके) शरीर की ज्योति अलचादर के (पीछे रक्खे हुए) दीपक की भाँति जगमगाती है। [केवल सारी पहने हुए नायिका की शोभा बिहारीलाल ने बहुत अच्छी तरह वर्णन की है—कहते हैं।

"जरी कोर गोरे बदन। बढ़ी खरी छवि देख,
लसति मनो बिजुरी किये सारद ससि परिवेष।"
"टटकी धोली धोवती चटकीली मुख जोति,
फिरत रसोई के बगर जगर मगर दुति होति।"

ले दोहा की उपमा और दूसरे का चित्र और शब्द प्रयोग —क्या मनोहरता है]

अलंकार—पूर्णोपमा

सोरठा—मगल बिंदु सुरगु, मुखु ससि केसरि आड[1] गुरु[2]।
इक नारी लहि मगु, रसमय किय लोचन जगत ॥२२॥

अर्थ—सुरंग बिंदु (भाल पर ईंगुर का, अच्छे रंग का, या लाल रोरी इत्यादि की बिंदी) रूपी मंगल, (पीत वर्ण) केसर

---

† गोरे मुख सेत सारी कचन किनारीदार
देव मनि झुमका झुमकि झुकाइ परत
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ
बड़ी बरुनी होड़ा होड़ी हुमड़े परत" देव।

१ केसरि आड़=केसरि का आड़ा टीकड़ा, आड (संस्कृत आलि=रेखा से)=स्त्रियों के ललाट पर का आड़ा (horizontal) तिलक "केसर की आड अधि राधिका रची बनाइ" केशव।

२ गुरु=बृहस्पति (देवताओं के गुरु)

सुकुमार" और जूडा में बँध जाने पर "मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार" और यहाँ तक नहीं छोड दिया है। लंबे बालों का सौंदर्य वर्णन करते करते उनको इतना उच्च पद दे दिया है कि लिखते हैं—

"ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय,
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसत पाय।"]

अलंकार प्रति वस्तूपमा (उपमेय और उपमान में एक धर्म)

नीकौ लसतु लिलार पर टीकौ[1] जरितु जराइ[2]।
छबिहि बढावतु रवि मनौ ससिमंडल मैं आइ ॥३४॥

अर्थ —(नायिका के) भाल पर रत्नजटित टीका (ऐसा) अच्छा सुशोभित है मानो सूर्य चंद्रमंडल में आकर छवि (अर्थात् मुख का सौंदर्य) बढा रहा हो (नायिका के चन्द्रमुख पर टीका सूर्य की तरह चमक रहा है) [प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूर्य के आ जाने से चन्द्रमा की शोभा बढ कैसे सकती है। यह चंद्रमा की प्रशंसा है। टीकासूर्य मुखचन्द्र के सामने (प्राकृतिक सूर्य के अनुदृश) इतना छोटा है कि उसका प्रकाश मुख सौंदर्य को फीका न करके उसमें चमक बढा देगा। जिससे माधुर्य के साथ द्युति भी आ जायगी]

अलंकार —उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (शशिमंडल में रवि के तुल्य लिलार पर टीका, लिलार विषय)

१—टीका ललाट का एक आभूषण होता है।

२—दे० दोहा सं० ७७—जरित जराइ = जडाऊ काम में जडा हुआ, रत्नजटित।

अलंकार श्लेष (नारी इ०), साग रुपक

कुटिल अलक[1]* छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु[2]
वंक वकारी[3] देत ज्यौं दामु[4] रुपैया होतु ॥२३॥८

अर्थ —(नायिका के) मुख पर टेढ़ी लट छूट पड़ने से उसकी चमक इतनी बढ़ गई है कि जैसे किसी अंक के (दाहिने) विकारी लगा देने से दाम (का मोल बढ़कर) रुपया हो जाता है—(जैसे ४) से बोध होगा चार रुपये का और विकारी न रहने पर ४ से बोध होगा ४ दाम का। श्याम रंग के टेढ़े बालों के मुँह पर आजाने से सहज सुन्दर गौर मुख की शोभा कई गुना बढ़ जाती है) [विहारीलाल ने बालों के वर्णन में कमाल कर दिया है। पहले उनका रूप देखिए—

"सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुचि सुगध सुकुमार" ये मनोहरबाल साधारण दशा में "छुटे छुटावैं जगत तें सटकारे

१—अलक = कनपुटी के ऊपर के लम्बे घुंघराले बाल, लट।

* ' लटकी लट वा लटकीली ते आर गई यदि कै छवि आनन की यों, आक बढ़े दिये दूजी विकारी के होत रुपैयन ते मुहरे ज्यों" सुदर '

" Her sunny locks hang on her temples like a golden fleece Shakspeare (M of V)

२—उदोत = उद्योत = चमक, उजियाली, सौंदर्य।

३—वक वकारी = टेढ़ी पाई ( ))

४ दाम 'एक पैसे के पचीसवें भाग को दाम कहते हैं'—छदाम पैसे का चौथा भाग होता है जिसे टुकड़ा भी कहते हैं। लिखावट में दाम की संख्या रुपया आना के बाद विकारी के बाद लिखी जाती है। केवल संख्या ही लिखने से और उसके बाद कोई विकारी न देने से दाम का बोध होता है—संख्या के बाद विकारी लगाने से रुपये का बोध होता है।

अलङ्कार व्यतिरेक (लिलार की बेंदी में अधिक गुण)

रस सिँगार मजनु किए, कजनु[1] भजनु दैन।
अंजनु रंजन हूँ बिना खजनु[2] गजनु नैन ॥३६॥

अर्थ—शृंगाररस में नहलाये हुए (तेरे अथवा नायिका के) नेत्र कमलों का मान-मर्दन करनेवाले और बिना अंजन (के रँगने अथवा) लगाये ही खंजन को अपमानित करनेवाले हैं [कमल में कोमलता होती है और वह सदा जल सिंचित रहता है। नेत्र उससे बढ़ गया क्योंकि वह साधारण रस नहीं वरन् शृंगार-रस सिंचित है। और शृंगार (हाव, भाव, कटाक्ष इत्यादि) में नहाने के कारण उसकी मोहिनी शक्ति कमल की कोमलता से भी अधिक होगई। खंजन पक्षी की श्यामता तथा चंचलता अति मनोहर होती है। नायिका के नेत्र स्वभावतः यह गुण प्राप्त हैं। अंजन की सहायता की आवश्यकता नहीं]

अलंकार—वृत्यानुप्रास। चौथा प्रतीप (उपमेय नयन की समानता उपमान कंज और खंजन नहीं कर सकते)

जोग जुगुति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन ॥ ३७ ॥

१—कंजन=कंज (कमल) का बहुवचन।

२—खजनु = पक्षीविशेष, खडरिच, [कवियों ने बहुधा आँख की उपमा खंजन से दी है। सूरदास कहते हैं "खंजन नैन रूप रस माते,
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवनन के उलटि उलटि ताटंक फँदाते,
सूरदास अंजन गुन अटके नातर अब उड़ि जाते।"]

कहत सवै वेंदी दियै आँकु दसगुनो* होतु ।
तिय लिलार वेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु[1] ॥३५॥

अर्थः—सभी कहते हैं कि (किसी संख्या पर) विंदी देने से (एक शून्य बढ़ा देने से) अंक (अर्थात् वह संख्या) दस गुना (जैसे ६ पर ० देने से ६०) हो जाता है। (परंतु) स्त्री के लिलार पर विंदी लगाने से (तो) प्रकाश या सौंदर्य अगणित (गुना) बढ़ जाता है (साधारण जनों के कथनानुसार केवल दस गुना ही बढ़ना चाहिए था। किंतु विंदी ने नायिका का लिलार पाकर अपना प्रभाव कहीं बढ़ा दिया) [विहारीलाल ने विंदी का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन कई दोहों में किया है। एक दोहे में कहते हैं।

"भाल लाल वेंदी ललन आपत रहे विराजि,
इंदुकला कुज में वसी मनो राहु भय भाजि" फिर
†"तिय मुख लखि हीरा जरी वेंदी बढ़ै विनोद,
सुत सनेह मानो लियो विधु पूरण बुधगोद"
"पचरँग नग वेंदी वनी उठी जागि मुख जोति" ।

---

* उर्दू के किसी शायर ने लिखा है—

"खाले सियाह नाफ़ मुदव्वर के पास है ।
जो हिन्दसा पहले पाच था वह अब पचास है" ॥

१—उदोत = दे० दो० ३३ ।

† यह दोहा अति रसमय और अर्थपूर्ण है । इससे बिहारी के गूढ़ ज्योतिप-ज्ञान का पता मिलता है। चन्द्रमा में बुध आने से ऐसी ग्रह सस्था होती है कि नाना प्रकार के लाभ और आनन्द प्राप्त होते हैं (जैसे धनागम, राजमान, ज्ञानवृद्धि, सतानप्राप्ति इ०) फिर सुत शब्द का प्रयोग—बिहारी ने सचमुच एक दोहे में एक किताब लिख दी है और वेंदी की छवि तो सब तरह से पूरी कर दी ।

अर्थ —हे हरि (श्री कृष्ण) ये नेत्र मृगी के नेत्रों से भी अच्छे हैं। ये तो कामदेव के बाणों † को (भी) बरबस जीत लिये हैं। मैंने तो ऐसे (नेत्र कहीं अथवा कभी) नहीं देखे (मैन और मैं न, हरिनी और हरि का प्रयोग देखिए)

मतिराम लिखते हैं।

"कवि मतिराम जैसे तीच्छन कटाच्छ तेरे, ऐसे कहाँ सर हैं अनग के निषंग में"

अलंकार यमक । काव्यलिंग (उत्तरार्द्ध की युक्ति से पूर्वार्द्ध का समर्थन)

संगतिदोषु लगै सबनु कहे ति साँचे बैन।
कुटिल वक्र भ्रुवसँग भये, कुटिल बक गति नैन ॥२९॥

अर्थ —सबको संगति का दोष लगता है (अर्थात् जैसे संगी रहते हैं वैसा प्रभाव पड़ता है—बुरों के साथ रहने से उनकी बुराई अपने में आ जाती है) यह (लोगों तथा चतुर जनों का बिलकुल) सच्चा कथन है (क्योंकि प्रत्यक्ष उदाहरण देखते हैं कि टेढ़ी भृकुटी के साथ रहने से नेत्रों की गति भी टेढ़ी हो गई) अर्थात् वे भी तिरछे कटाक्ष करते हैं) [इस दोहा में नेत्रों की मोहिनी चाल का वर्णन एक बड़ी शिक्षा के साथ दिया है और दोष मिस गुण दर्शाया है—संगतिदोष लगने का उदाहरण देखिए। तुलसीदास भी लिखते हैं।

"को न कुसंगति पाइ नसाई"]

अलंकार —उल्लास, (भ्रू के कुटिल होने से नैन-गति का कुटिल होना) अर्थान्तरन्यास।

---

†—दे० पृ० ७ पाद-टीका ५

अर्थ —(तेरे अथवा नायिका के) नेत्र प्रिय (पति, प्रियतम अथवा ईश्वर) से एकता (प्यारे से सदा मिलाप) अथवा ईश्वर में लीनता की इच्छा से कानन (कानों अथवा वन का) सेवन करते हैं। मानो महामुनि कामदेव ने योग की सब युक्तियाँ (प्रियतममिलन की युक्तियाँ अथवा योगक्रियाएँ) सिखा दी हों, अथवा उनके द्वारा सब योग युक्ति सिखाये हुए नेत्र कानन सेवन करते हैं। (अब इस अर्थ पर विचार कीजिए। बड़े लम्बे नेत्रों की शोभा किस विशिष्टता से वर्णन की है। कैसे चुनचुन के शब्द लिखे हैं। और नेत्रों की बड़ाई तथा लम्बाई का इससे अच्छा वर्णन अति कठिन है। कहाँ योग वैराग्य, और कानन, कहाँ नेत्रों की शोभा और शृंगार, कहाँ कामदेव, कहाँ महामुनि—कैसा मिलान किया है। यह दोहा अनुपम है। एक और बात विचारणीय है। पत्नी के लिए पति अद्वैतता हमारे शास्त्रों में किसी योगाभ्यास और योगफल से कम नहीं। इसका ध्यान रखते हुए शब्दों का प्रयोग और कहने का ढंग अति मनोहर है)'

अलंकार—सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा। श्लेष (जोग, अद्वैतता, कानन), और रूपक (महामुनि मैन)। श्लेष नेन में भी हो सकता है।

बर[1] जीते सर मैन* के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तें हरि नीके ए नैन ॥३८॥

१—बर = बरबस, बलात्कार।

*अँगरेजी का कवि स्पेंसर लिखता है "
I mote perceive how in her glancing sight
Legion of loves with little wings did fly"

अलंकार उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा (नयन घूँघट के बीच गया के बीच मीनतुल्य है—नयन, विषय)

दृगनु लगत बेधत हियहि विकल करत अंग आन।
ए तेरे सब ते विषम ईछन[1] तीछन * बान॥ ४२॥

अर्थ —ये तेरे नयनरूपी तीक्ष्ण बाण सब (बाणों, अन्य प्रकार के वास्तविक बाणों) से विलक्षण हैं (इनकी समानता किसी से नहीं हो सकती। ये अद्भुत अथवा निराले हैं, क्योंकि ये आँखों में (तो) लगते हैं (परन्तु) हृदय को वेधते हैं और अन्य अंगों को विकल करते हैं (देखिए नेत्र-बाणों की विषमता कैसी दिखलाई है और कितना यथार्थ वर्णन है) [-बिहारी ने नेत्र बाण तथा उनके द्वारा कमनैती का अति उत्कृष्ट वर्णन किया है। कटाक्ष शर अन्य शरों से अधिक दुखदाई होते हैं, क्योंकि इनमें विशेष विलक्षणता है, कुछ तो इनकी बनावट में, कुछ प्रभाव में और कुछ इनके चलाने में देखिए —

"लागत कुटिल कटाच्छ सर क्यों न होंहि बेहाल।
कढ़त जु हियो दुसार[2] करि तऊ रहत नटसाल[3]॥"

१—ईछन = ईक्षण = दृष्टि।

बाबू हरिश्चन्द्र लिखते हैं—

"भूलै नाहिं हगनि तिहारी हरिचन्द तैसी,
बाँकी चितवनि हिय फरकि फरकि उठै
बेधि बेधि उठत विषीले नैन बान मेरे,
हिय में कटीली भौंर करकि करकि उठै"

प्रेममाधुरी

२ दुसार, दुसाल, जिसके दोनों ओर छिद्र हों, आरपार।

३ नटसाल = नष्ट शल्य, बाण का वह भाग जो टूट कर बाण के निकल जाने पर भी शरीर के भीतर ही रह जाता है और पीड़ा दिया करता है।

अलंकार उपमा, यमक, व्यतिरेक

चमचमात* चचल नयन विच घूँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता[1] विमल जल उछरत जुग मीन ॥४२॥

अर्थ.—(उस नायिका के) महीन (= झीन) घूँघट के कपड़े (= पट) के भीतर (= बीच) चंचल नेत्र (ऐसे) चमचमा रहे हैं मानो निर्मल गंगाजल में दो मछलियाँ उछल रही हों [इस दोहे के शब्दों पर ध्यान दीजिए कैसे सरस और अर्थसूचक हैं। मछलियों की उपमा तुलसीदास ने भी बड़ी मनोहर दी है।

"रामहिं चितइ चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीनयुग, जनु विधुमंडल डोल॥"

पलक पट के भीतर नेत्रों का वर्णन सुनिए—

"अटपटात अलसान पलक पट मूँदत कबहुँ करत उघारे,
मनहुँ मुदित मरकत मनि आगन खेलत खंजरीट चटकारे।"
(सू० दा०)

इन महाकवि ने घूँघट-पट का भी वर्णन किया है

"अवलोकत अलसात नवल छवि अमित तोयअति आरत
नमकि तमकि तरकत मृगपति ज्यों घूँघट पटहिं विदारत"

---

*शेक्सपियर लिखता है " How came her eyes so bright Hermia's sphery eyne " (M N D)

वर्ड्सवर्थ की उपमा है " Her eye a star of twilight fair,' और कोलरिज की ' her eye was bright
A well of love, a spring of light."

१—सुरसरिता = देवसरि, गगा (पृथ्वी पर देवताओं की नदी)।

है सब विहारीलाल ने कह डाला है। झाँकने पर एक दोहा सुनिए—

"सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि॥"—

शब्द-प्रयोग, उपमा और चित्र कैसे विचित्र हैं

आँखों का प्रियतम को ढूँढ लेना और उसी पर जा के पड़ना अथवा उससे बातें कर लेना किस मनोहरता से वर्णित है—देखिए —

"पहुँचत डटि रन सुभट लौं रोकि सकें सब नाहिं,
लाखनहू की भीर में आँखि उतै चलि जाहिं॥"
"सबरी भीरहू भेदि कै कितहू ह्वै उत जाय,
फिरै डीठि जुरि डीठि सों सबकी डीठि बचाय॥"
"सब ही तन समुहाति[1] छिन चलति सबनि दै पीठि
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा[2] लौं डीठि॥"

१—समुहाति = सामने होती है।

२—किबलनुमा = कबिलनुमा, कबिल नवी, कबलनवी इत्यादि पाठांतर हैं—इस शब्द का ठीक अर्थ नहीं ज्ञात होता। यदि इसको फारसी शब्द किब्लनुमा (दिक् प्रदर्शकयन्त्र, जिससे मुसलमान लोग काबा यानी मक्का की दिशा जान लेते थे) का अपभ्रंश समझें तो अर्थ अच्छा निकल सकता है। क्योंकि पत्नी के लिए पति काबा से कम नहीं है। उसी ओर दृष्टि जानी चाहिए, और यदि कृष्ण कवि की तरह इसका अर्थ मन्त्र का कटोरा किया जाय (कबल शब्द कटोरावाचक है) तो दो बातें ठीक बैठ जाती हैं। एक तो "सबनि दै पीठि" का आक्षरिक (literal) अर्थ निकल आता है और दूसरे चितचोर प्रियतम की ओर ठहरना बिल्कुल ठीक हो जाता है। (मन्त्रकटोरा जल से भरा हुआ तान्त्रिक मन्त्र द्वारा

'अलि इन लोचन सरनि को खरो विषम संचार।
लगे लगाये एक से दुहुँ अनि करत सुमार[1] ॥"

अब इन बाणों द्वारा जो बिना प्रत्यंचा ही के बने होते हैं चतुर अहेर का वर्णन सुनिए—

"खेलन सिखये अलि भले चतुर अहेरी मार[2]।
काननचारी नैन मृग नागर नरनि सिकार॥

"तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिह[3] भौंह कमान।
चल चित बेझो[4] चुकति नहिं बंक बिलोकनि बान॥"

इस संबंध में निम्नलिखित दोहा कवि की निरीक्षण शक्ति तथा उपमा वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"नीची यैं नीची निपट डीठि कुही[5] लौं दौरि।
उठि ऊँचे नीचे दियो मन कुलंग[6] झकझोरि॥"

वास्तव में ऐसा ज्ञान पड़ता है कि नेत्रों के संबंध में जो कुछ कहने अथवा जानने योग्य है या जो कुछ कवि कह सकता

१—सुमार = अच्छी मार।

२—मार = कामदेव।

३—जिह = फ़ारसी शब्द जेह से है = प्रत्यंचा, चिल्ला।

४—बेझा = लक्ष्य, निशाना।

५—कुही = एक पक्षीविशेष जो नीचे ही उड़ते उड़ते एकाएक ऊपर उठ कर जिस पक्षी का शिकार करना होता है उस पर अचानक टूट पड़ता है और उसे झकझोर कर बेदम करके नीचे की ओर झोंक से उतरता है—यह एक प्रकार का छोटा बाज होता है—(संस्कृत कुधि)।

६—कुलिंग = एक प्रकार का पक्षी। भृङ्ग, फिङ्गा, तथा गोरवा भी कहते हैं। संस्कृत में यह कलविंक है।

हैं सब विहारीलाल ने कह डाला है। झाँकने पर एक दोहा सुनिए—

"सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि के गई झरोखे झाँकि॥"—

शब्द प्रयोग, उपमा और चित्र कसे विचित्र हैं

आँखों का प्रियतम को ढूँढ लेना और उसी पर जा के पड़ना अथवा उससे बातें कर लेना किस मनोहरता से वर्णित हैं—देखिए —

"पहुँचत डटि रन सुभट लौं रोकि सकें सब नाहिं,
लाखनहू की भीर में आँखि उतै चलि जाहिं॥"

"सरी भीरहू भेदि के कितहू ह्वै उत जाय,
फिरे डीठि जुरि डीठि सों सबकी डीठि बचाय॥"
"सब ही तन समुहाति[1] छिन चलति सवनि दे पीठि
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा[2] लौं डीठि॥"

१—समुहाति = सामने होती है।

२—किबलनुमा = कबिल्नुमा, कविल नवी, कवलनवी इत्यादि पाठांतर है—इस शब्द का ठीक अर्थ नहीं ज्ञात होता। यदि इसको फारसी शब्द क़िब्लनुमा (दिक प्रदर्शकयन्त्र, जिससे मुसल्मान लोग काबा यानी मक्का की दिशा जान लेते थे) का अपभ्रंश समझें तो अर्थ अच्छा निकल सकता है। क्योंकि पत्नी के लिए पति काबा से कम नहीं है। उसी ओर दृष्टि जानी चाहिए, और यदि कृष्ण कवि की तरह इसका अर्थ मन्त्र का कटोरा किया जाय (कवल शब्द कटोरावाचक है) तो दो बातें ठीक बैठ जाती हैं। एक तो "सवनि दै पीठि" का आक्षरिक (literal) निकल आता है और दूसरे चितचोर प्रियतम की ओर ठहरना ठीक हो जाता है। (मन्त्रकटोरा जल से भरा हुआ तान्त्रिक

(सुन्दर कवि ने भी लिखा है —

"मंत्र की कटोरी जैसे चली चली डोलति है
चोर ही की ठौर भले आइ ठहराति है")
"भरे भवन में करत हैं नैनन ही सो बात"
"दूरे खरे समीप को मानि लेत मन मोद,
होत दुहुन के दृगन ही बतरस हँसी विनोद ॥"

प्राणपति को नैहर में देखकर इन आँखों की क्या दशा होती है उसको भी सुन लीजिए—

"छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह,
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ।"]

अलकार—असगति से पुष्ट काव्यलिंग (वाण को तीक्ष्ण कहकर विफल होने की बात का समर्थन)

*कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकुट बनमाल ॥४४॥

अर्थ —(हे नायिका तूने अपने) नेत्र ऐसे लाडले क्यों किये हैं। (अर्थात् तूने इतनी सुन्दर आँखें क्यों कीं—देखो तो उनकी सुन्दरता पर मोहित होकर) लाल (प्रियतम कृष्ण) बेसुध पड़े हैं। कहीं मुरली (फेंकी पडी है) कहीं पीताम्बर (उतरा पडा

चलायमान किया जाता है। वह प्रत्येक बैठे मनुष्य की ओर जाता है और लौट आता है, सिवाय उस मनुष्य के जिसने (वस्तुविशेष की) चोरी की हो। उसके पास जाके वह ठहर जाता है—इससे किसी चोरी गई हुई वस्तु का पता लगाया जाता है) रत्नाकरी टीका मे यह दूसरा अर्थ दिया है और 'कपिल नवी' का पाठ है। वास्तव मे यही अधिक जँचता है।

* दे० पृष्ठ २१

है) और कहीं मुकुट कहीं वनमाल (गिरे पड़े हैं) [यह कमाल का दोहा है। एक पद में पूरा चित्र और वह भी अति उत्तम। बे-सुधों की दशा, नेत्रों की करनी किस ढङ्ग से वर्णित है। और यदि "लड़ैते" शब्द पर ध्यान दीजिए तो अपूर्व मनोहरता दीख पड़ती है। लड़ैते का अर्थ लड़नेवाले भी हो सकता है। वास्तव में आँख लड़ाने ही से कृष्ण बेहाल पड़े हैं, नायिका के प्रवीण योधाओं ने उनको एकदम पराजित कर दिया है]

अलङ्कार—व्याजस्तुति।

जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाँक।
मनौं अली चम्पक कली बसि रसु लेतु निसाँक ॥४५॥

अर्थ —(उस नायिका के) सुन्दर (सुहावने, चित्ताकर्षक) नाक में नीलम जड़ी हुई सींक (आभूषण विशेष जिसे लौंग, फुली और लौंगफुल भी कहते हैं) जगमगा रही है मानो भौंरा चंपे की कली पर बैठ कर बेखटके (नि शंक) रस ले रहा है [भौंरा चंपा पर नहीं बैठता किन्तु यह चम्पा की कली ऐसी मुग्धकारिणी है कि सामान्य नियम भी भुला देती है]

अलङ्कार—उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा (नाक में सींक मानों चम्पककली पर अली। नाक, विषय)

बेसरि मोती दुति झलक परी ओंठ पर आइ।
चूनौ होइ न चतुर तिय क्यों पट पोंछ्यौ जाइ ॥८६॥

अर्थ —हे चतुर अर्थात् (लक्षणा शब्दालंकार से) भोली स्त्री यह (तेरे होंठ पर जो सफेदी दीखती है सो नाक में पहनी हुई) बेसरि के मोती की चमक की झलक पड़ी है। (यह पान में खाया हुआ) चूना नहीं है (अत यह सफेदी) कपड़े से पोंछने से कैसे जा सकती है (तू भूल से उसे बार बार क्यों पोंछ रही है)।

अलङ्कार, भ्रान्त्यापन्हुति ।

वेधक अनियारे नयन वेधत करि न निषेधु[1] ।
बरबट वेधतु मो हियो तो नासा कौ वेधु ॥४७॥

अर्थ —(तेरे) वेधक (अर्थात् वेधनेवाले) नुकीले (अनियाले) नेत्र (कोई) वर्जित या अनुचित कार्य करके नहीं वेधते हैं (अर्थात् वे तो स्वाभाविक ही वेधक है। यह तो उनका काम ही है। परन्तु) तेरी (वेंधित) नाक का छिद्र बरबस मेरा हृदय बेधता है [नाक इतनी सुन्दर और मनमोहिनी है कि इसने वेंधित रहते हुए भी वेधक का काम प्रारम्भ कर दिया है। विहारी ने विना आभूषणों के नाक की शोभा में कैसा चमत्कार दिखलाया है]

अलङ्कार विभावना (चौथी, छिद्र का वेधक होना)

लसतु सेत सारी ढप्यौ तरल तर्यौना कान ।
पर्यौ मनो सुरसरिसलिल रविप्रतिबिंबु विहान ॥४८॥

अर्थ —(उस नायिका के) कान में का तरल कर्णफूल श्वे[त] सारी से ढँका हुआ ऐसा शोभित है मानो गङ्गाजल में प्रात[ः] काल को सूर्य की परछाहीं पड़ी हो, [तरल शब्द का प्रयोग देखिए। इसका अर्थ है पानी सदृश रहनेवाली वस्तु जि[से] अँगरेजी में liquid कहते हैं। इससे बहता हुआ, हिलत[ा] हुआ, चमकता हुआ आदि अर्थ निकलते हैं, हिलना या तो सारी के हिलने से हो सकता है जैसे जल हिलने से सूर्य का प्रतिबिंब हिलता है अथवा कम्प सात्विक के कारण हो सक[ता]

१—निषेध = वर्जित कार्य, इस शब्द का अर्थ वर्जना भी हो सक[ता] है। "हे प्यारी ! तू नेत्रों को मना मत कर क्योंकि ये तो नुकीले बेधक ही, परन्तु ''

है। दोनों में कवित्व भरा है। श्वेत सारी की उपमा देवसरि से विहारी ने अन्य स्थान में भी दी है। दे० दो, सं० ४२]

अलङ्कार, उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (तरौना सारी में गङ्गा में सूर्य के तुल्य, तर्यौना विषय)

ललित स्यामलीला[1] ललन बढी चिबुक छवि दून।
गोदना मधु छाक्यौ मधुकरु पर्‌यौ मनौ गुलाब प्रसून * ॥४९॥

अर्थ —हे ललन (नायिका के चिबुक पर) मनोहर श्याम रङ्ग गोदना (के होने) से (उस) चिबुक की छवि दूनी बढ गई है (ऐसा जान पडता है) मानो पुष्परस से छक कर कोई भौंरा गुलाब के फूल में पडा है [बिहारीलाल ने चिबुक का भी बहुत उत्कृष्ट वर्णन किया है। उसके गड्ढे की मनोहरता यों बयान करते है—

"तो लखि मोमन जो लही सो गति कही न जाति।
ठोढी गाड गड्यौ तऊ उड्यौ रहै दिन राति॥

और उसमें गोदने की श्यामता का कारण बतलाते हैं।

"डारे ठोढी गाड गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंधि में रूप ठग हाँसी फाँसी डारि॥"]

अलङ्कार —उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (चिबुक में श्यामलीला मानो प्रसून में भौंरा—चिबुक, विषय)

१—श्यामलीला = गोदना

* "अति दुति ठोढी बिन्दु की ऐसी लखी कहूँ न,
मधुकर सूनु छक्यो पर्‌यो मनौं गुलाब प्रसून।

विक्रम

सूर[1] उदित हूँ मुदित मन मुखु सुखमा की ओर[2]।
चितै रहत चहुँ ओर तै निहचल[3] चखनु[4] चकोर ॥५०॥

अर्थ —(उस नायिका के मुख और चन्द्रमा में कोई भी अंतर नहीं है इसी लिए) सूर्योदय हो जाने पर भी चकोर पक्षी बेखटक आँखों से (नि शंक होकर टकटकी लगाये) चारों ओर से उसके मुखसौंदर्य (या चमक) की ओर अथवा उसके मुख को सौंदर्य की सीमा है प्रसन्न चित्त (होकर) देखते रहते हैं।

अलंकार. भ्रम

पत्रा ही तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ[5]ई रहै आनन ओप[6]उजास[7] ॥५१॥

अर्थ.—(जहाँ ससिमुखी नायिका रहती है) उस घर के आस पास (चारों ओर) केवल पत्रा ही से तिथि का ज्ञान होता है (क्योंकि) उसके (चन्द्र) मुख की चमक के प्रकाश से नित्य प्रति पूर्णमासी ही रहती है (पूर्ण चन्द्रमा का सा प्रकाश प्रति रात्रि को रहता है। इसलिए चन्द्रमा को देखकर उसके प्रकाश से कोई तिथि नहीं बतला सकता । अत. पत्रा ही द्वारा

१—सूर = सूर्य "सूर सूर तुलसी ससी, उडुगण केशवदास"।

२—ओर = (१) तरफ, (२) किनारा, सीमा, अवधि ।

३—निहचल = निश्चल, जो चलायमान न हो, स्थिर, टकटकी लगाये, बेखटक ।

४—चखनु = चखु (आँख) का अपभ्रंश बहुवचन ।

५—पून्यों = पूर्णिमा, पूर्णमासी ।

६—ओप = चमक ।

७—उजास = प्रकाश ।

तिथि जानी जा सकती है) (इन दोनो दोहों के साथ दो० स० १६ देखिए)

अलंकार.—परिसंख्या, काव्यलिंग (पूर्वार्ध का समर्थन उत्तरार्द्ध की युक्ति से)

नैंक हँसौहीं बानि तजि लख्यौ परतु मुँहु नीठि[1] ।
चौका[2] चमकनि चौंध में परति चौंधि* सी डीठि ॥५२॥

अर्थ —(हे नायिका तू) हँसते रहने की बान थोड़ा छोड दे (क्योंकि जब तू हँसती है तब) आगे के चारों दाँतों की चमक की चकाचौंध में आँख चौंधिया सी जाती है (जिससे तेरा) मुख कठिनता से दिखलाई पडता है (इस एक दोहे में कवि ने दाँतों की मनोहर नेत्राकर्षक चमक, हास्य की मधुरता और मुख का सौंदर्य जिसके देखने के लिए हँसने की बानि छोड़ाई जा रही है एक साथ वर्णन किया है)

अलंकार —काव्यलिंग (उत्तरार्द्ध बात से पूर्वार्ध का समर्थन) । अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (दाँतों की चमक चौंध के तुल्य, अनुक्त विषय हास्य ।।

---

१ नीठि=कठिनता से ।

२ चौका=आगे के चार दाँत (दो ऊपर के दो नीचे के) .

* केशवदास नायिका के सीस, भाल, कंठ, नाक इत्यादि पर पूरा चकाचौंध का सामान रख कर लिखते हैं—"तैसीये दसनदुति दमकत केसोराय हरे हरे हँसि नक चतुर चपल नैन चित चकचौंधै मेरे मदन गोपाल को"

सूर[1] उदित हूँ मुदित मन मुखु सुखमा की ओर[2]।
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहचल[3] चखनु[4] चकोर ॥५०॥

अर्थः—(उस नायिका के मुख और चन्द्रमा में कोई भी अंतर नहीं है इसी लिए) सूर्योदय हो जाने पर भी चकोर पक्षी बेखटक आँखों से (निःशंक होकर टकटकी लगाये) चारों ओर से उसके मुखसौंदर्य (वा चमक) की ओर अथवा उसके मुख को जो सौंदर्य की सीमा है प्रसन्न चित्त (होकर) देखते रहते हैं।

अलंकार, भ्रम

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ[5] ई रहै आनन ओप[6] उजास[7] ॥५१॥

अर्थः—(जहाँ ससिमुखी नायिका रहती है) उस घर के आस पास (चारों ओर) केवल पत्रा ही से तिथि का ज्ञान होता है (क्योंकि) उसके (चन्द्र) मुख की चमक के प्रकाश से नित्य प्रति पूर्णमासी ही रहती है (पूर्ण चन्द्रमा का सा प्रकाश प्रति रात्रि को रहता है। इसलिए चन्द्रमा को देखकर उसके प्रकाश से कोई तिथि नहीं बतला सकता । अतः पत्रा ही द्वारा

१—सूर = सूर्य "सूर सूर तुलसी ससी, उडुगण केशवदास"।

२—ओर = (१) तरफ, (२) किनारा, सीमा, अवधि।

३—निहचल = निश्चल, जो चलायमान न हो, स्थिर, टकटकी लगाये, बेखटक।

४—चखनु = चक्षु (आँख) का अपभ्रंश बहुवचन।

५—पून्यौं = पूर्णिमा, पूर्णमासी।

६—ओप = चमक।

७—उजास = प्रकाश।

अर्थ --(हे) गोपीनाथ (गोपियों के स्वामी श्रीकृष्ण) आप (अपने मन से) तो बड़े (और) गंभीर, धैर्यवान् कहलाते हैं, (परन्तु) मैं आपको तभी जानूंगी जब (आप उस नायिका के अति मनोहर) हाथों को देख कर (अपना) मन (अपने) हाथ में रखे रहेंगे। (आप इतनी गोपियों के नाथ हैं सही, परन्तु उस नायिका के सुन्दर हाथों को देखते ही आप मोहित होकर विवश हो जायँगे और अपना मन उन्हीं हाथों में सौंप देंगे। मन अपने हाथ रखना अथवा दूसरे के हाथ देना मुहावरा है)।

अलंकार —संभावना

गडे बडे छवि छाक[1] छकि छिगुनी छोर[2] छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नह दी महदी नैन ॥५५॥

अर्थ —(मेरे) नेत्र सुन्दरता के बड़े नशे से छक कर (नशे में डूबे हुए) (तेरी या उस नायिका की) कानी उँगली के सिरे से छुटते नहीं—उस स्थान पर नख में मेंहदी लगी है उसी के (सुहावने) लाल रङ्ग में रँग गये हैं (अनुरक्त हो रहे हैं)। [यह सबसे छोटी उँगली के सिरे की शोभा है, पूरे हाथ की शोभा देख कर तो गोपीनाथ अवश्य ही अपना मन हार जायँगे (दे० दो० स० ५४)।]

अलङ्कार —गम्योत्प्रेक्षा (नेत्र उँगली में गडकर मेंहदी में रंगे प्रतीत होते हैं—'मानो' लुप्त है)।

१—छाक = मद्य, नशा, मस्ती (छकना से)

२—छिगुनी = कनिष्ठिका या कानी उँगली (क्षुद्र अँगुली), छोर = किनारा, सिरा।

छिप्यौ छबीलौ मुँह लसे नीलै[1] अंचर[2] चीर ।
मनौ कलानिधि[3] झलमलै कालिंदी[4] के नीर ॥५३॥

अर्थ —(उस चन्द्रमुखी का) मुख नील (रंग के) अंचल पट में छिपा हुआ (ऐसी) शोभा दे रहा है मानो यमुना के (नीले) जल में चन्द्रमा झलमला रहा हो ।

अलंकार —उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (अंचल पट में मुख कालिंदी में कलानिधि प्रतीत होता है, विषय मुँह)

बड़े कहावत आप सौं गरुवे[5] गोपीनाथ[6] ।
तौ बदिहौ[7] जौ राखिहौ हाथनु लखि मनु हाथ ॥५४॥

१ पा० झीनें (=पतला)

२ अचर=आंचर=अचल, सारी का वह भाग जो मुख पर ओढ़ा जाता है।

३ कलानिधि=चन्द्रमा, (चन्द्रमा के सोलहो कलाओ अर्थात् अश— अमृता, मानदा, पूषा, पुष्टि, तुष्टि, रति, धृति, शशनी, चद्रिका, काति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अगदा, पूर्णा, पूर्णामृता)

४ कालिंदी=यमुना । कलिंद पर्वत से निकली हुई नदी ।

५—गरुवे = भारी (गरवा गरूहू) गभीर, धैर्यवान्, प्रतिष्ठित ।

६—गोप = गो पालन करनेवाला वा चरानेवाला,उससे स्त्रीलिंग हुआ गोपी—श्रीकृष्ण मथुरा मे आकर नंद के घर रहते हुए गोवे चराया करते थे उनके अनक गोप सखा थे, और गोपियो में वह बहुधा क्रीड़ा किया करते थे । गोपियाँ उनको अपना आराध्य तथा प्रियतम समझती थीं इसी लिए उनको गोपीनाथ कहा है । इस प्रसग मे इस शब्द का प्रयोग अति मनोहर है ।

७—बदना = शर्त लगाना, दाव बदना, बड़प्पन मान जाना, हार मान जाना, 'जानना' और 'समझना' का प्रयोग भी इस अर्थ म होता है ।

अर्थ —(नायिका के) पैर में महावर लगाने के लिए नाइन लाकर बैठी (परंतु उस नायिका की महावरी सदृश लाल और गोल) एँड़ी (ही) को महावरी समझ कर बार बार मलने लगी (या मल रही है) [लाल एँडी का वर्णन बिहारीलाल ने एक और दोहे में बड़ा अच्छा किया है।

कोहर सी ऐंड़ीन की लाली निरखि सुभाय।
पाय महावर देइ को आप भई बे पाय१॥"

पहली नाइन भोली थी। उसे भ्रम होगया इसलिए एँडी ही को महावरी समझ कर मलने लगी। यह दूसरी नाइन चतुर थी एँडी पहचान तो गई किंतु उसकी ललाई देख कर चकित हो गई और महावरि न लगा सकी। दूसरे दोहे में पाय और बे पाय का यमक देखिए। घासीराम ने लिखा है—

"एड़ी ठकुराइन की नाइन गहत जबै,
ईंगुर को रंग दोरि आवै दरबर मैं
दीयो है कि देवो है विचारै सोचे बार बार,
बावरी सी ह्वै रही महावरि ले कर मैं"]

अलंकार —भ्रम

स्वेद सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँग हाथ कै हथलेयैं१ हीं हाथ॥५८॥

अर्थ —पाणिग्रहण करते ही वर और दुलहिन (दोनों) ने स्वेदरूपी जल और रोमांच-रूपी कुश ग्रहण करके (अपना अपना)

१—बेपाय = बिना पैर की, मतिपंगु, चकित, स्तम्भित।

१ हथलेयैं=हथलेओ वा हथलवा में, हथलेओ = पाणिग्रहण। विवाह समय पुरुष स्त्री का हाथ पकड़ता है। यह एक दूसरे से सदा प्रेम करने और उसकी रक्षा करने का प्रण होता है।

पग पग मग अगमन[1] परत चरन अरुन दुति झूलि[2]।
ठौर ठौर लखियत[3] उठे दुपहरिया[4] के फूलि ॥५६॥

अर्थ —(नायिका जब रास्ता चलते समय अपने लाल पैर पीछे से उठा कर आगे रखती है तो उसकी आभा झूल पड़ती है। अर्थात् जब पैर रखती है तो उनकी अरुण द्युति तिरछी ऊपर से नीचे आते दीखती है। उसी का वर्णन है। इसमें नायिका की गति और उसके अरुण-चरण दोनों की प्रशंसा है) रास्ते में पग पग पर आगे चरणों की लाल आभा झूल पड़ती है (उसकी शोभा ऐसी मालूम होती है मानो) स्थान स्थान पर दुपहरिया के फूल फूल उठे दीख पड़ते हैं।

अलंकार —उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (अरुण चरण विषय, उसकी दुति दुपहरिया के फूल के तुल्य है)

पाइ महावरु दैन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी[5] एडी मीडति[6] जाइ ॥५७॥

१—अगमन=आगे, जहाँ अभी पैर गमन नहीं किया, अब पड़ने को है।

२—झूलि पड़ना, झूलना = लटकना, ऊपर से नीचे को आना।

३—लख = देखना, उसी से लखना हुआ, लखियत = दीखते हैं।

४—दुपहरिया = वधूक पुष्प, यह लाल रङ्ग का फूल दोपहर को घरमात के दिनों में फूलता है।

५ —महावरी = महावर की गोली—नाइनें रुई की गोली बनाकर महावर के गाढे रंग में खूब डुबो देती हैं और फिर उसी को मलमल कर रंग निचोड़ती और लगाती जाती हैं। इसी गोली को महावरवटी वा महावरी कहते हैं।

६—मीडना, माड़ना, मींजना, मांजना इत्यादि शब्द भिन्न भिन्न प्रसङ्ग में मलना के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

योग्य गृहिणी समझ कर घर का प्रभुत्व उसे सौंप दिया। प्राण-प्यारे ने उसको अधिकारी समझ कर तथा उसके रूप-गुण स्वभाव पर प्रेमवश होकर अपना मन या हृदय दे दिया। सौतियों ने उसको अपने से अधिक चित्ताकर्षक तथा प्रेम का अधिकारी समझ कर सौभाग्य दे दिया। अर्थात् पति जितनी प्रीति इन सौतियों से रखता था वह सब प्रीति उन्होंने दुलहिन को दे दी। जिससे पति का पूरा प्रेम उसे अकेले ही मिल गया।)

अलंकार —सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता (सबका सौंपना)।

कौनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।
मो मन[1] मोहन रूपु मिलि पानी मैं कौ लौनु ॥६०॥

अर्थ —मेरा मन मोहन के रूप में मिलकर पानी में का नमक हो गया अब कहो कोटि उपाय करने पर भी उसको कौन निकाले [अथवा मेरे मनरूपी मानसरोवर में मोहन का रूप मिलकर पानी में का निमक होगया। अब यह रूप मेरे हृदय से नहीं निकल सकता। रूप में लावण्यता तो है ही और मान-सरोवर पानी ही है—यह अर्थ अच्छा मालूम होता है। किंतु पहला अर्थ इसलिए दिया गया है कि मन का रूप में मिलकर अपने से बाहर चला जाना और फिर उसके लौटा लेने की सम्भावना न होना अधिक प्रासंगिक जान पड़ता है। मेरा मन उस रूप में मिलकर अपना व्यक्तित्व या अस्तित्व खो बैठा है]

---

१ मन = (१) हृदय (२) मानसरोवर, मनरूपी मानसरोवर। जब मन को कर्त्ता करेंगे तो न को उकारांत और रूपु के पु को अकारान्त कर देना होगा।

हृदय हाथ ही के साथ (एक दूसरे के) हाथ में दे दिया। (अर्थात् प्रकट रूप से तो हाथ सौंपे गये और ग्रहण किये गये परंतु वास्तव में हृदय भी सौंप दिये गये। अर्थात् विवाह समय ही पूर्ण अनुराग होगया, रोंगटे खड़े हो गये और शरीर से पसीना निकलने लगा—पाणिग्रहण का उत्कृष्ट चित्र और अर्थ)

अलंकार—रूपक

मानहु मुँह दिखरावनी[1] दुलहिहिँ करि अनुरागु।
सासु सदनु मन ललनहूँ सौतिनु दियौ सुहागु[2] ॥५९॥

अर्थ—(नववधू आते ही अपने रूप, सौंदर्य, शील तथा गुण से सबकी प्यारी होगई) मानो उससे अनुराग करके मुँहदिखौनी में सासु ने घर (घर की मालिकाई) नायक ने भी (अपना) मन और सपत्नियों ने सुहाग दे दिया (अर्थात् सासु ने प्रवीण और

१—मुँह दिखरावनी = विवाह हो जाने पर जब दुल्हिन अपने पति के घर आती है तो मुँह दिखरावनी का रसम होता है जिसमें उसका मुँह दिखलाया जाता है। और लोग (विशेषत जो पद में बड़े होते हैं) उसको गहना, कपड़ा, रुपया इत्यादि भेंट देते हैं। इसी को मुखदिखौनी कहते हैं।

२—सुहाग = सौभाग्य, स्त्री के लिए उसका सौभाग्य पति का प्रेम है। आशीर्वाद में कहते भी हैं सौभाग्यवती हो (तुम्हारे पति जीवित रहें और तुमसे प्रेम करें) यहाँ प्राणपति की प्रीति से मतलब है।

"जाको प्रिय प्यारो चहै वहै सुहागिनि नारि"।

सखी को) मना कर रही हैं (कि) धीरे धीरे कहो (नहीं तो प्रियतम यह बात सुन लेंगे, क्योंकि) बिहारीलाल (श्रीकृष्ण) मेरे हृदय (ही) में बसते हैं [गाढ़े प्रेम की दशा देखिए। प्रियतम के हृदय में बसने के संबंध में कबीरदास कहते हैं—

"प्रीतम को पतिआँ लिखूँ जो कहुँ होय बिदेस।
तन में मन में नैन में ताको कहा सँदेस"]

अलंकार—काव्यलिंग (पहले का समर्थन उत्तरार्द्ध से)

ढरे ढार तेहीं ढरत दूजैं ढार ढरैं न।
क्यौं हूँ आनन आन सौं नैना लागत नै[1] न ॥६३॥

अर्थ—(ये मेरे नेत्र जिस) ढार की ओर ढर गये (बस) उसी ओर ढरते हैं (किसी) अन्य ओर नहीं ढरते। किसी प्रकार भी आँखें अन्य मुख से झुक कर या रीझ कर नहीं लगतीं (अथवा किसी अन्य मुख से नहीं लगती हैं) [दृढ़ प्रेम की दशा]

अलंकार—अनुप्रास

या अनुरागी चित्त की गति[2] समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥६४॥

अर्थ—इस अनुरागी (प्रेमी) चित्त की गति कोई नहीं समझता (इसकी यह दशा है कि) ज्यों ज्यों श्याम रंग में डूबता है त्यों त्यों उज्ज्वल होता है [इस दोहे का अर्थ शृंगार और शांत दोनों रसों में हो सकता है—नायिका श्रीकृष्ण के प्रेम में ज्यों

१—नै = नय कर, झुक कर, रीझ कर। 'नै' के स्थान पर 'है' कर देने से अर्थ साफ़ हो जाता है। किंतु ढार (= ढाल) के लिए नै ही अच्छा होगा।

२—गति = चाल, ढंग, दशा, व्यवस्था।

अलंकार—दृष्टांत। श्लेष (मन)

उनकौ हितु¹ उनहीं बनै, कोऊ करौ अनेकु।
फिरतु काकगोलकु² भयौ दुहू देह ज्यौं एकु ॥६१॥

अर्थः—(दम्पति का ऐसा गाढ़ अनुपम प्रेम है कि) उनका प्रेम उन्हीं से (किये) बनता है, (दूसरा) कोई अनेक (उपाय) करे (परन्तु, वैसा प्रेम नहीं बन सकेगा, क्योंकि वहां तो) दोनों शरीर में एक (ही) प्राण काकगोलक भया (हुआ) फिरता है [फारसी में ऐसे ही प्रेमियों के लिए कहा है 'एक जाँ दो क़ालिब'—एक जीव दो शरीर]

अलंकारः -विशेषोक्ति (उपाय असफल)। उपमा (जी की गोलक से, देह की काक की आंख से)

सखी सिखावति मान विधि सैननि बरजति बाल।
*हरैं³ कहै मो हीय मैं बसत बिहारीलाल ॥६२॥

अर्थ —सखी (नायिका को) मान करने की विधि सिखा रही है (उसे सुनकर वह) बाला आँखों के संकेत से (उस

१ हित=प्रेम, प्यार।

२ काकगोलक=काग के आंख की पुतली। लोकोक्ति है कि काग की दोनो आखो के लिए वास्तव में एक ही पुतली होती है जो दोनों में फिरा करती है।

३ हरें=धीरे धीरे।

*अमरुक शतक मे नायिका मान की शिक्षा पर घबराकर कहती है (सैननि नहीं बरजती)

"नीचै शंस हृदि स्थितोहि ननु मे प्राणेश्वर श्रोष्यति"

" My beloved is always in my heart "—Tagore

मिल गई । रोमाच देखकर कोई सखी समझ गई । चतुर सखी ने प्रियतम प्रेम को भगवान् भक्ति कहा है । रामचरितमानस में भी सीता की चतुर सखी प्रेम से आँख बंद किये देखकर गौरी का ध्यान कह रही है—

"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, श्यामकिशोर देखि किन लेहू"]

अलकार —धर्मवाचक लुप्तोपमा (तन की कदम्ब से, धर्म—रोमांचित, वाचक—की तरह—लुप्त है)।

फिरि फिरि बूझति कहि कहा कह्यो साँवरे गात।
कहा करत देखे कहाँ अली चली क्यों बात ॥७०॥

अर्थ —(नायिका किसी सखी से जो उसके प्राणपति के पास से आ रही है) बार बार पूछती है कि हे सखी कहो श्याम गात (श्रीकृष्ण) ने क्या कहा (तुमने उनको) क्या करते देखा (और) कहाँ (देखा, और हमारी) बात कैसे चली ? [प्रेम की उत्सुक दशा देखिए]

अलकार —स्वभावोक्ति

देखौं जागत वैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवतु जातु भजि को जानै किहिं बाट ॥७१॥

अर्थ —(स्वप्न में प्रियतम से मकान के भीतर ही भेंट होती है) परन्तु जागने पर किवाड़ में वैसी ही जंजीर (जैसी रात्रि को सोते समय दी थी) लगी देखती हूँ—कौन जाने किधर होकर अर्थात् किस मार्ग से) आते हैं और किस मार्ग (बाट) से भाग जाते हैं।

अलंकार —तीसरी विभावना (प्रतिबंध कपाट रहते आने जाने का कार्य हो जाना)।

अर्थ —हे लाल (नायिका के गाढ़ प्रेम की यह दशा है कि तुम्हारी अनुपस्थिति में उसकी प्राणरक्षा केवल तुम्हारे किसी स्मरण चिह्न ही से होती है) तुमने उस दिन हँस के (अपने) हृदय से उतार कर जो (गुंजमाला उसको) दी थी वही गुंजों की माला उसके प्राण को कपूर की तरह रखती है (उसको उड़ जाने अर्थात् शरीर से निकल जाने से रोक लेती है) [प्रियतम की दी हुई वस्तु अति प्यारी होती है। एक मालाही के सम्बन्ध में बिहारीलाल कहते हैं।

"नेकौ उहि न जुदी करी हरपि जु दी तुम माल,
उर में बास छुट्यो नहीं बास छुटे हु लाल।"]

अलंकार —उपमा, श्लेष

मैं यह तोहीं मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भौ तनु कदंब[1] की माल ॥६९॥

अर्थ —(नायिका को ठाकुरजी की प्रसादमाला पहनते हुए जो वास्तव में प्राणप्यारे की माला थी रोमांचित होते देखकर कोई चतुर सखी कहती है) हे बाला यह अपूर्व भक्ति (जो तुम्हारी अवस्था की स्त्रियों में नहीं होती) मैंने तुझी में देखी कि प्रसाद-माला पाकर (तेरा) शरीर कदंब (के फूलों) की माला (की तरह अर्थात् रोमांचित) हो गया [किसी कारण से चाहे चतुर सखी ने दी हो चाहे प्राणपति की चढ़ाई माला संयोग से देवालय में से मिली हो नायिका को प्रसादमाला के रूप में प्रियतम की माला

१—कदंब, कदम्ब वा कदम—बहुधा गानों में सुना जाता है "झूला पड़े कदम की डार"—कदम का फूल गोल गोल गेंदे की तरह होता है। ऊपर को सारे फूल में रोंगटे सी पीली पीली खड़ी मुलायम सुन्दर नोकें निकली रहती हैं।

अलङ्कार —व्यतिरेक, अनुप्रास

मैं हो जान्यौं[1] लोइननु जुरत बाढिहै जोति ।
को हो जानतु दीठि कौ दीठि किरकिरी होति ॥७७॥

अर्थ —मैं (तो) जानती थी कि आँखों के मिलने से (उनकी) ज्योति बढ़ेगी (दो दो चार हो जायँगी—अर्थात् प्रेम का परिणाम मैं आनन्द समझती थी)। कौन जानता था कि आँख के लिए आँख ही किरकिरी हो जाती है। (जैसे किरकिरी पडने से आदमी को पीडा होती है और आँस बहा करते हैं वैसे ही प्रेम हो जाने पर भी आँसू बहा करते हैं) [कम से कम आँखों को एक दूसरे की पीडा समझनी चाहिए थी। सजातियों में सहानुभूति की आशा की जाती है। कौन जानता था कि आँखें इस नियम को तोड कर धोखा देंगी।]

अलकार —तीसरा विषम ।

कोरि जतन कीजै तऊ नागरि नेह दुरै न ।
कहे देत चितु चीकनौं नई रुखाई नैन ॥७८॥

अर्थ —हे नागरी (चतुर नायिका, चतुर इसलिए कि वह अपने जाने में चतुरता करके प्रेम छिपाना चाहती है) करोडों उपाय किये जायँ तब भी प्रेम नहीं छिपता। (तेरे) नयन की नई रुखाई (जो पहले नहीं थी अर्थात् बनावटी रोष या मुँझलाना इत्यादि) हृदय का चिकनापन कहे देती है (बतला रही है कि तेरा हृदय प्रेम से स्निग्ध है) [नयन की रुखाई चित्त का चिकनापन बताती है। 'नागर' और 'कहैं' पाठ रखने पर नागर नेह एक में करना होगा अर्थात् (उस) नागर का (विलक्षण) नेह।

१—मैं हो जान्यो = मैं जानती थी, को हो जानतु = कौन ।

"नैना नेकु न मानहीं कितो कहौ समझाय,
तन मन हारिहू हँसे तिनसों कहा बसाय।"]

अलंकार—रूपक (लोचन अर्थात् दल्लाल हैं)। अनुप्रास

डर न टरै नींद न परै[1] हरै न काल विपाकु[2]।
छिनकु छाकि[3] उछकै[4] न फिरि खरौ[5] विषमु छविछाकु[6] ॥७६॥

अर्थः—छवि का नशा बड़ा विषम (कठिन अथवा सादृश्य रहित) होता है, क्षण मात्र भी पी लेने पर फिर नहीं उतरता (अन्य नशाओं को बार बार पीना पड़ता है), न तो डर (ही) से टलता है (बहुत से नशे डर के मारे उतर जाते हैं), न नींद (ही इसको) शांत करती है (नींद आती ही नहीं। बहुत से नशे नींद से भी दूर हो जाते हैं), न समय का व्यतीत होना (ही इसे) हरता है (कुछ नशे नियत काल पूरे होने पर छूट जाते हैं)

[सूरदास लिखते हैं—

"मोहन मुख मुसकानि मनहुँ विष जाति मरे सो मारे,
फुरै न मंत्र जंत्र गति नाहीं चले गुनी गुन हारे,
प्रेम प्रीति विष हिरदे लागी डारत है तनु जारे,
निर्विष होत नहीं कैसेहु करि बहुत गुनी पचिहारे,"

Mrs Behn लिखती है "O love that stronger art than wine"

१—परै, पड़ना शब्द साधारण अर्थ के अतिरिक्त शांत होने के अर्थ में भी आता है जैसे 'हवा पड़ गई'।

२—कालविपाक = नियत समय का व्यतीत होना।

३—छाकि = छक लेने पर = पी लेने पर।

४—उछकना = उतरना, उचटना।

५—खरो = बड़ा।

६—छवि छाक = छवि या सौंदर्य का नशा, रूप की आसक्ति।

अर्थ —प्रियतम से वार्तालाप के आनद के लालच से (राधिका ने उनकी) बाँसुरी (कहीं) छिपा के रख दी। (जब श्रीकृष्ण) सौंह करते हैं (शपथ खाते हैं कि सच बता दो, मैं बड़ा अनुगृहीत हूँगा इत्यादि) तो (राधिका) भौंहों में हँसती है (और जब कृष्ण) देने को कहते हैं (कि मुरली दे दो) तो (वह) मुकर जाती है। ['करै' और 'कहै' पाठ रखने पर प्रत्येक क्रिया का कर्त्ता राधिका होगी। कभी शपथ खाती है, फिर भौंहों से मुसकराती है। कभी देने को कहती है फिर मुकर जाती है]

अलङ्कार —स्वभावोक्ति (राधा कृष्ण के हँसी खेल का स्वाभाविक वर्णन) अथवा कारक दीपक।

नाँक चढै[1] सीबी[2] करैं जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल[3] ॥८१॥८

अर्थ —(वह) छैलछबीली (सजी धजी सुन्दरी नायिका) जितना ही अथवा जिस ओर से (पति के चलने के कारण) नाक चढाकर 'सी' 'सी' का शब्द करती है (संग चलते हुए प्राणपति के पैरों में कंकड़ी गड़ते देखकर वह पीड़ित होती है, 'सी' कार करती है और उनको चिकने रास्ते पर चलने के लिए कहती है। प्रियतम चिकनी पगडंडी उसके लिए छोड़कर आप कँकरीले रास्ते पर चलता है। नायिका के बहुत कहने पर कुछ देर तक ककड़ियों को बचा के चलता है किंतु स्त्री का बरजना और सीत्कार करना उसे ऐसा आनन्द देता है कि) पति बार बार

१—पा० मोरि।

२—सीबी = 'सी' कार करना, सीत्कार।

३—गैल = रास्ता (पाठकों ने बहुधा गानों में सुना होगा "गैल चलो न जाय")

और कहे का कर्त्ता नैन को करना पडेगा—नेत्र प्रेम अवश्य ही प्रकट कर देंगे, देखिए—

"प्रेम अडोल डुलै नहीं मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति वसी चितवनि माँहि लखाय" ॥
"प्रेम छिपाया ना छिपै जा घट परगट होय।
जो पै मुख बोले नहीं नैन देत है रोय" ॥ कबीर]

अलंकार—विभावना (तीसरी, प्रतिबंध जतन होते हुए भी नेह खुल जाता है, पाँचवीं, रुलाई कारण से चीकना कार्य)

लखि गुरुजन[1] बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई वाम[2] ॥७९॥

अर्थ—गुरुजनो के बीच (नायिका को) देखकर कृष्ण ने (अपना) सिर कमल से छुवाया (अर्थात् यह सूचित किया कि मैं अपना सिर तेरे पदपद्मों से लगाता हूँ, पैर पडता हूँ)। राधिका ने (इसका भाव समझ कर) आरसी (दर्पण) को कृष्ण के सामने करके (अपने) हृदय में लगा लिया (अर्थात् यह सूचित किया कि मै अपने दर्पण समान स्वच्छ निष्कपट हृदय में आपकी मूर्ति धारण करती हूँ)।

अलंकार—सूक्ष्म (संकेत ही संकेत)

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौह करै भौहनु हँसै दैन कहैं नटि जाइ ॥८०॥

१—गुरजन—बडे लोग, माता, पिता इत्यादि जिनके बीच लज्जा और भय के साथ रहा जाता है।

२—वाम = वामा = वाम भागवाली = अर्द्धांगिनी, नायिका, राधिका।

अर्थ —प्रियतम से वार्तालाप के आनद के लालच से (राधिका ने उनकी) बाँसुरी (कहीं) छिपा के रख दी। (जब श्रीकृष्ण) सौंह करते हैं (शपथ खाते हैं कि सच बता दो, मैं बड़ा अनुगृहीत हूँगा इत्यादि) तो (राधिका) भौंहों में हँसती है (और जब कृष्ण) देने को कहते हैं (कि मुरली दे दो) तो (वह) मुकर जाती है। ['करै' और 'कह' पाठ रखने पर प्रत्येक क्रिया का कर्त्ता राधिका होगी। कभी शपथ खाती है, फिर भौंहों से मुसकराती है। कभी देने को कहती ह फिर मुकर जाती है]

अलङ्कार —स्वभावोक्ति (राधा कृष्ण के हँसी खेल का स्वाभाविक वर्णन) अथवा कारक दीपक।

नाँक चढ़ै[1] सीबी[2] करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल[3] ॥८१॥

अर्थ —(वह) छैलछबीली (सजी धजी सुन्दरी नायिका) जितना ही अथवा जिस ओर से (पति के चलन के कारण) नाक चढ़ाकर 'सी' 'सी' का शब्द करती है (संग चलते हुए प्राणपति के पैरों में ककड़ी गड़ते देखकर वह पीड़ित होती है, 'सी' कार करती है और उनको चिकने रास्ते पर चलने के लिए कहती है। प्रियतम चिकनी पगडंडी उसके लिए छोड़कर आप कँकरीले रास्ते पर चलता है। नायिका के बहुत कहने पर कुछ देर तक ककड़ियों को बरा के चलता है किंतु स्त्री का बरजना और सीत्कार करना उसे ऐसा आनन्द देता है कि) पति बार-बार

१—पा० मोरि।

२—सीबी = 'सी' कार करना, सीत्कार।

३—गल = रास्ता (पाठकों ने बहुधा गानों म सुना होगा "मोसे गेल चलो न जाय")

भूलकर (ऐसा जनाता हुआ कि वह सचमुच भूल गया) वही कँकरीला रास्ता पकड लेता है [सजेधजे परंतु नंगे पैर चलने से अनुमान होता कि स्त्री-पुरुष देव-पूजन को जा रहे हैं]

अलंकार असंगति तथा तीसरी विभावना

मोहि दयौ मेरौ भयौ रहतु जु मिलि जिय साथ ।
सो मनु बाँधि न सौंपियै पिय सौतिनि कैं हाथ ॥८२॥

अर्थ —(हे प्राणपति) मुझको दिया हुआ (आपका मन) जो मेरा भया हुआ (मेरा होकर मेरे) प्राण के साथ मिलकर रहता है (अथवा जिसको मिलकर वा जिसके मिलने से मेरा प्राण मेरे साथ रहता है) वह मन बाँध करके (बरबस, जो स्वयं जाना नहीं चाहता) सपत्नी के हाथ न सौंपिए (नहीं तो मेरा प्राण भी मुझको छोड देगा) [उक्ति देखिए]

अलंकार काव्यलिङ्ग (सौतियों को न सौंपिए इसका समर्थन पूर्वार्द्ध से है)।

मार्‌यौ मनुहारिनु भरी गार्‌यौ खरी मिठाहिँ ।
वाकौ अति अनखाहटौ[1] मुसकाहट बिनु नाहिँ ॥८३॥

अर्थ—(उस नायिका वा प्यारी की) मार भी मनुहारियों (मन हरण करनेवाली रीतियों वा प्यार) से भरी हुई है (और उसकी) गाली भी बडी मीठी लगती है। उसका अत्यन्त क्रोधयुक्त बात करना भी बिना मुसक्यान के नहीं (होता) (उसमें इतनी मनोहरता भरी है और वह इतनी हँसमुख है कि उसके प्रत्येक कार्य में चाहे वह साधारणत दुखद ही क्यों न हो एक मधुर

१—अनखाहट = क्रोध वा क्रोधयुक्त बातें, "अति अनखौहे नैन" बिहारी, (अनख = अन, उरा + अच = आँख, क्रोध, झुँझलाहट)

रस भरा रहता है) [प्यारी के क्रोध में भी इतना रस भरा है कि कभी कभी नायक उस रस के लिए जान जान कर उसे क्रोधित करता है।

"मन न मनावन को करे देत रुठाइ रुठाइ।
कौतुक लागो प्रिय प्रिया खिझहू रिझवति जाइ।"]

अलकार —विरोधाभास।

राति द्यौस हौसै[1] रहै मानु न ठिकु ठहराइ।
जेतौ औगुनु हूँढियै गुनै हाथ परि जाइ ॥८४॥

अर्थ —(हे सखी मुझे) रात दिन अभिलाषा रहती है (कि प्रियतम से मान करके मान का भी आनद उठाऊँ परन्तु क्या करूँ) मान स्थिर ठहरता नहीं (अथवा ठीक ठहरता नहीं- अर्थात् मान किये वनता नहीं। कारण इसका यह है कि मान करने के निमित्त प्राणपति में) जितना ही अवगुण ढूँढिए (ढूँढा जाय उतना ही) गुण ही हाथ पड जाता है (प्रियतम के गुण ही गुण देख पड़ते हैं)

[विहारीलाल ने मान का वडा ही उत्कृष्ट वर्णन किया है। पति अनुरागिणी स्त्री की इच्छा रहने पर भी मान न कर सकना इन्होंने खूब लिखा है।

"सतर भोह रूखे वचन करत कठिन मन नीठि।
कहा करो है जाति हरि हेरि हसौंही डीठि॥"
"दहे निगोडे नेन ये गहे न चेत अचेत।
हो कसुकै रिसहे करौ ये निसिखे हँसि देत॥"

१—हौस = फारसी शब्द हवस (= लालच)

"तुहँ कहे हौ आपुहू समुझति सबै सयान।
लखि मोहन जो मनु रहै तौ राखौं मनमान ॥"

अंतिम दोहा पराकाष्ठा को पहुँच गया]

अलङ्कारः—व्याज-स्तुति

ललन चलनु सुनि चुपु रही बोली आपु न ईठि[1]।
राख्यौ गहि गाढ़ै[2] गरैं मनौ गलगली[3] डीठि ॥८५॥

अर्थ —प्रियतम के (परदेश) गमन (की बात उन्हीं से सुनकर और उनके आँसूभरे नेत्र देखकर वह नायिका) चुप रही, वह स्वयं प्रेमपूर्वक (कुछ भी) न बोली (अर्थात् उसने अनुरागपूर्वक अपने विरह दुख की कोई बात न कही) मानों (प्रियतम की) सजल दृष्टि ने (उसके) गले में (वाणी या वचन को) ज़ोर से दबा (पकड़) रक्खा (अर्थात पति को डबडबाये देखकर उसने प्रेम या विरह की कोई बात न चलाई। दुख अनुभव करने के लक्षण तो पति की आंखो ही ने प्रकट कर दिये। अब थोड़ा और कष्ट देना नायिका ने उचित न समझा, यदि वह स्वय न रोते होते तो शायद कुछ कहती भी)।

अलङ्कार —अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा (बात अनुक्त है)

१—ईठि = इष्ट करके, प्रेमपूर्वक, यह शब्द इष्ट का विकृत रूप है। इसका अर्थ मित्र या सखी भी है। ऐसा अर्थ रखने पर 'ईठि' को संबोधन समझना होगा 'हे सखी वह नायिका प्रियतम के चलने

२—गाढ़ै = खूब, ज़ोर से, गाढ़ता से।

३—गलगली = डबडबाई हुई, अश्रुपूर्ण।

ललन चलनु सुनि पलनु मैं अँसुवा झलके आइ ।
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूठैं हीं जमुहाइ ॥८६॥

अर्थ—प्रियतम के (परदेश) गमन (की बात) सुनकर (नायिका के) पलकों में आँसू झलकने लगे (आँखों में आँसू भर आये। परन्तु वह चतुर नायिका) झूठे ही जम्हाई लेकर (जिससे ऐसा ज्ञान पड़े कि आँसू प्रेम के नहीं वरन् जम्हाई के हैं) सखियों से भी लखित न हुई (सखियाँ भी यह मर्म न समझ सकीं)

अलंकार युक्ति (जम्हाई द्वारा भेद छिपाना)

चलत चलत लौं लै चलैं सब सुख संग लगाइ ।
ग्रीषम बासर सिसिर निसि प्यौ मो पास बसाइ ॥८७॥

अर्थ—(प्रियतम के चले जाने पर तो न जाने क्या दशा होगी, अभी) चलते चलते तक (अर्थात् चलते ही समय) मेरे पास शिशिर की रात्रि में ग्रीष्म के दिन बसाकर (प्राण) पति सब सुख (अपने) साथ लगा ले चलते हैं (अथवा 'लै चलैं' ले चले) [प्रस्थान ही के समय विरह-दाह ने जाड़े की रात में गरमी के दिन की सी गरमी पैदा कर दी। अब दिन की दशा तो कौन वर्णन करे। यदि शिशिर की रात्रि और ग्रीष्म का दिन अलग अलग लें तो भी अर्थ हो जायगा किन्तु ऐसा रस नहीं आ सकता—'जैसे जाड़े की रात काटे नहीं कटती और गरमी का दिन व्यतीत नहीं होता वैसे ही रात्रि और दिन मेरे पास बसा कर ']

अलंकार गम्योत्प्रेक्षा (सिसिर निसि मानो ग्रीषम बासर होगई। मानो लुप्त)।

पूस मास सुनि सखिनु पै साईं चलत सवारु[१] ।
गहि कर वीन[२] प्रवीन तिय राग्यौ रागु मलारु[३] ॥८८॥

अर्थ —पूस के महीने में सखियों से (यह) सुनकर कि प्राण-पति सवेरे (परदेश) चल रहे हैं (जाने को प्रस्तुत हैं वा जायँगे) प्रवीण स्त्री ने हाथ में वीणा लेकर मलार राग अलापा अर्थात् वह मलार राग गाने लगी, जिससे पानी बरस जाय और प्राणपति का गमन रुक जाय)—[पूस में वर्षा नहीं होती। इसलिए जब संगीत विद्या में निपुण नायिका पानी बरसा देगी तो अकाल वृष्टि के कारण जिसमें यात्रा निषिद्ध है पति को रुक जाना होगा। इस प्रवीण नायिका की चतुरता देखिए। विरह-दुख का वर्णन न करके, निष्फल आंसू न बहा करके गाना ही आरम्भ कर दिया और अपनी योग्यता से विरह को पास नहीं आने दिया।]

अलंकारः पर्यायोक्ति अथवा आक्षेप ।

रहिहैं चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट[४] ।
ललन चलन की चित धरी कल न पलनु की ओट ॥८९॥

अर्थ—(हे सखी तू ही) कह (प्राणपति के परदेश चले जाने पर) ये मेरे चंचल (जो सहज ही चलायमान हैं अर्थात् जिनका

१—सवार = सवेरे, प्रात काल ।

२—वीन = (वीणा) एक बाजा जो सितार से बडा उसी तरह का होता है और जिसके दोनों ओर बडे बडे तूँबे होते हैं।

३—मलार = एक राग है जिसके विधि-पूर्वक गाने वा बजाने से पानी बरसने लगता है । यह राग वर्षा ऋतु का, रात्रि के दूसरे पहर का है। मलार मेघराग का छठा पुत्र माना जाता है।

४—अगोट = अग्र + ओट = ओट, आड़ ।

स्वभाव ही चलना है) किसकी रुकावट से रहेंगे (अर्थात् ये भी चले जायँगे) प्रियतम ने गमन ठाना है (चलना निश्चय किया है, और अभी उनके) पलकों की आड में (उनके सामने न रहने से मुझे) चैन नहीं (पडती)

अलंकार —अनुप्रास। वक्रोक्ति।

अजौं न आए सहज रँग बिरह दूबरे गात।
अबही कहा चलाइयति ललन चलन की बात ॥९०॥

अर्थ —हे प्रियतम अभी चलने की बात क्या चलाई जाती है या चलाते हो (अर्थात् अभी आप चलने का नाम क्यों लेते हैं) अभी तो (प्रथम) विरह के कारण दुबले भये हुए शरीर में स्वाभाविक रंग भी नहीं आया (प्रथम वियोग का कठोर प्रभाव तो अभी मिटा नहीं यह दूसरा कैसे सह सकती हूँ)। [द्वितीय चरण का माधुर्य देखिए—विरह दूबरे गात में सहज रंग का आना वर्णन करके कवि ने बडा ही कौशल* दिखलाया है।]

---

*पं० पद्मसिंह शर्मा ने इस दोहे का मुकाबला गाथा सप्तशती के निम्नलिखित श्लोक से किया है और इसी को उच्च स्थान दिया है।

"अज्जवो दुकर आरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा" ॥ ३।७३

अर्थात् संस्कृत में "अद्यापि दुष्करकारक पुनरपि चिंतां करोषि गमनस्य।
अद्यापि न भवंति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुरा ॥

अर्थात् अभी तो वेणी बाँधने से उलझे हुए केश भी सुलझ कर सीधे नहीं हो पाये। फिर तुम्हें जाने की सूझी।

पूस मास सुनि सखिनु पैं साईं चलत सवारु[१] ।
गहि कर वीन[२] प्रवीन तिय राग्यो रागु मलारु[३] ॥८८॥

अर्थ —पूस के महीने में सखियों से (यह) सुनकर कि प्राण-पति सवेरे (परदेश) चल रहे हैं (जाने को प्रस्तुत हैं वा जायँगे) प्रवीण स्त्री ने हाथ में वीणा लेकर मलार राग अलापा अर्थात् वह मलार राग गाने लगी, जिससे पानी बरस जाय और प्राणपति का गमन रुक जाय)—[पूस में वर्षा नहीं होती । इसलिए जब संगीत विद्या में निपुण नायिका पानी बरसा देगी तो अकाल वृष्टि के कारण जिसमें यात्रा निषिद्ध है पति को रुक जाना होगा । इस प्रवीण नायिका की चतुरता देखिए । विरह-दुख का वर्णन न करके, निष्फल आँसू न बहा करके गाना ही आरम्भ कर दिया और अपनी योग्यता से विरह को पास नहीं आने दिया ।]

अलंकारः पर्यायोक्ति अथवा आक्षेप ।

रहिहैं चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट[४] ।
ललन चलन की चित धरी कल न पलनु की ओट ॥८९॥

अर्थ —(हे सखी तू ही) कह (प्राणपति के परदेश चले जाने पर) ये मेरे चंचल (जो सहज ही चलायमान हैं अर्थात् जिनका

१—सवार = सवेरे, प्रातःकाल ।

२—वीन = (वीणा) एक बाजा जो सितार से बड़ा उसी तरह का होता है और जिसके दोनों ओर बड़े बड़े तूँबे होते हैं ।

३—मलार = एक राग है जिसके विधि पूर्वक गाने वा बजाने से पानी बरसने लगता है । यह राग वर्षा ऋतु का, रात्रि के दूसरे पहर का है । मलार मेघराग का छठा पुत्र माना जाता है ।

४—अगोट = अग्र + ओट = ओट, आड़ ।

अर्थ —(प्रोषितपतिका नायिका) प्रियतम की चिट्ठी पाकर (उसको) हाथ में लेकर, (प्रेम के मारे) चूम कर (आदर के साथ) सिर चढ़ा कर, (विरहाग्नि से सतप्त छाती को शीतल करने के लिए प्रेम पूर्वक) छाती से लगा कर (और) भुजाओं से भेंट कर। (उसे) देखती, बाँचती और चपत कर धरती है। [पाती को छाती से लगाने के सबंध में बिहारीलाल लिखते हैं —

"रँग राती राते हिये प्रीतम लिखी बनाय।
पाती काती बिरह की छाती रही लगाय।"—

तोष कवि ने लिखा है—

"कहे कवि तोष जिय जानि दुख काती ताते,
छाती की तवीज पिय पाती को किये रहै।
नेकु न पत्याती दिन राती इस-भाँती प्यारी,
विरह अपाती ताको कातीसी लिये रहै"॥]

अलङ्कार—कारक दीपक

बाम बाँह* फरकति मिलैं जो हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीं सौं भेटिहौ राखि दाहिनी दूरि ॥९८॥

अर्थ —(हे मेरी) बाईं भुजा (तू जो) फरकती है (और प्राण-पति का शुभागमन सूचित करती है तो मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि) यदि प्राणाधार श्रीकृष्ण (आ) मिलें तो मैं दाहिनी बाँह को दूर हटा कर तुझी से उनको भेटूँगी।

---

*आर्या सप्तशती में भी लिखा है।—

"प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः।
प्रियसङ्गमाय स्फुरिता वियोगिनी वामबाहुलताम्"

की बात सब तेरा ही हृदय कह देगा (क्योंकि एक तो मेरा हृदय तुम्हारे ही पास है। दूसरे तुम अपनी ही व्यथा से मेरी व्यथा का भी अनुमान कर लेना)।

अलङ्कार—प्रेमात्युक्ति

तर झुरसी ऊपर गरी कज्जल जल छिरकाइ।
पिय पाती बिन हीं लिखी बाँची बिरह बलाइ ॥९६॥

अर्थ—नीचे की ओर कुछ कुछ जली (झुलसी) हुई (विरह-ताप से अथवा कंप इत्यादि के कारण हाथ से छूट कर दीया इत्यादि पर पड जाने से और) ऊपर की ओर कज्जलयुत जल से छिरकी गली हुई (गरी) चिट्ठी में पति ने बिना लिखे ही विरह-व्यथा बाँच ली (इन चिह्नों को देखकर समझ गया कि वियोग ने प्राणप्यारी को कितना सताया है) [बिना लिखी पाती भेज देना अथवा विरह-व्यथा न लिखने पर भी पति का समझ जाना प्रेम तथा विरह का आधिक्य सूचित करता है। एक और दोहे में कहा है—

"विरह विकल बिनही लिखी पाती दई पठाय।
आँक विहीनीयों सुचित सूने बाँचत जाय।"]

अलङ्कार—अनुमान, विभावना (लिखना कारण के बिना ही बाँचना कार्य हो जाना)

कर लै चूमि चढ़ाइ सिर* उर लगाइ भुज भेटि।
लहि पाती पिय की लखति[१] बाँचति धरति समेटि ॥९७॥

*सेनापति भी लिखते हे "माथे लै चढाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि छाती लपटाय राखी पाती प्रान पति की"।

१—पा० तिया।

अलङ्कार —सामान्य (एक रूप हो जाना)

गुड़ी उड़ी लखि लाल की अँगना[1] अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवत छबीली छाँह ॥११२॥

अर्थ —(प्रेमाधिक्य देखिए, वह) छबीली अँगना (सुन्दरी नायिका) प्रियतम का पतंग उड़ते अँगने में देखकर (पतङ्ग की छाया पड़ते देखकर) पागल सी परछाहीं छूती हुई दौड़ती फिरती है (प्रियतम के पतङ्ग की छाया भी ऐसी प्यारी है अथवा इतना अनुराग उत्पन्न करा सकती है)।

अलङ्कार —यमक, पूर्णोपमा, अनुप्रास।

छुटै न लाज न लालचो प्यौ लखि नैहर गेह।
लटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥११३॥

अर्थ —(अपने प्राण) पति को नेहर (मैके) के घर में देख कर (नायिका की ऐसी दशा हो रही है कि) न तो (नेहर में रहने के कारण) लज्जा (ही) छुटती है (और) न (प्रेमाधिक्य के कारण प्रियतम को देखने का) लालच ही—(अत इसी दुविधा में पड़े हुए उसके) नेत्र (एक ओर) सकोच (दूसरी ओर) स्नेह से पूर्ण अत्यंत छटपटा रहे है (कि क्या करें देखें अथवा दृष्टि नीची करलें)।

अलकार —पर्याय और अनुप्रास।

इन दुखिया अँखियानु* कों सुखु सिरज्योई नाँहि।
देखें बनै न देखतैं अनदेखें अकुलाँहि ॥११४॥

1—अँगना = स्त्री, सुन्दर अग वा शरीरवाली स्त्री (न, प्रशसार्थ)

*"वा जगनचक देखे बिना दुखिया अँखियान न रञ्चक चैन री" —देव

अर्थ.—(अनुरक्त नायिका प्रेम की) बढ़ी हुई गाढ़ी पीड़ा से गाढ़ी सी यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ, रात दिन घूमती है तनिक भी धीरज नहीं धारण करती। [फारसी के प्रसिद्ध कवि फ़ैज़ी ने लिखा है कि प्रेम फ़ैज़ी से संतोष, बुद्धि और चेतनता ले गया। ‘‘عشق صبر و خرد و هوش ز فیضی بربود’’

अलङ्कार —पूर्णोपमा, अनुप्रास।

पिय कैं ध्यान गही गहो रही वही* है नारि।
आपु आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि॥ १११॥

अर्थः—(अनुरक्त नायिका) प्रियतम के ध्यान से ग्रस्त होकर (उसमें निमग्न होकर) वही (नायक ही) हो रही है। (वह) रिझवारि (जो रीझने की योग्यता रखती है) अपने आप ही दर्पण (में अपना मनोहर रूप) देखकर रीझती (मोहित वा प्रसन्न होती है) है। [नायिका का नायक सदृश हो जाना तथा अपने ही को प्रतिबिंबित देखकर रीझना अन्य स्थान पर भी वर्णित है।]

फूँकना, = पेट में अग्नि फूँकना, बेचैनी होना, जिसके कारण आदमी धीर से नहीं रह सकता, डाढना क्रिया रूप में पूरब में प्रयोग होता है। ‘व्यर्थ काहे डाढते हो’ = क्यों जलाते हो, दुख देते हो वा बेचैन करते हो।

यदि दाढ़ी पाठ रखे तो ढाढी एक जाति विशेष को कहते हैं जो इधर उधर घूमा करती है। पहला पाठ और अर्थ अधिक अच्छा मालूम होता है।

* प्रसिद्ध है कि भृङ्गीग्रस्त कीट भी भृंगी ही हो जाता है।

• “कान्हमयी वृषभानुसुता भई” देव

अलङ्कार —सामान्य (एक रूप हो जाना)

गुडी उडी लखि लाल की अँगना[1] अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवत छबीली छाँह ॥११२॥

अर्थ —(प्रेमाधिक्य देखिए, वह) छबीली अँगना (सुन्दरी नायिका) प्रियतम का पतग उडते अँगने में देखकर (पतङ्ग की छाया पडते देखकर) पागल सी परछाहीं छूती हुई दौडती फिरती है (प्रियतम के पतङ्ग की छाया भी ऐसी प्यारी है अथवा इतना अनुराग उत्पन्न करा सकती है)।

अलङ्कार —यमक, पूर्णोपमा, अनुप्रास।

छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥११३॥

अर्थ —(अपने प्राण) पति को नेहर (मैके) के घर में देख कर (नायिका की ऐसी दशा हो रही है कि) न तो (नेहर में रहने के कारण) लज्जा (ही) छुटती है (और) न (प्रेमाधिक्य के कारण प्रियतम को देखने का) लालच ही—(अत ऐसी दुविधा में पडे हुए उसके) नेत्र (एक ओर) सकोच (दूसरी ओर) स्नेह से पूर्ण अत्यंत छटपटा रहे हैं (कि क्या करें देखें अथवा दृष्टि नीची करलें)।

अलकार —पर्याय और अनुप्रास।

इन दुखिया अँखियानु* कौं सुखु सिरज्योई नाँहि।
देखैं बनै न देखतै अनदेखैं अकुलाँहि ॥११४॥

1—अँगना = स्त्री, सुन्दर अग वा शरीरवाली स्त्री (न, प्रशसाथ)

*"वा जगवचक देखे बिना दुखिया अँखियान न रहत चैन री" देव

अलङ्कार—अपह्नुति (हेतु उत्तरार्द्ध में दिया है)

तच्यौ आँच अब विरह की रह्यौ प्रेम रस भीजि।
नैननु कैं मग जलु बहै हियौ पसीजि पसीजि ॥११७॥

अर्थ—(विरहिणी नायिका का) हृदय जो पहले प्रेम के रस से भीगा रहा अब (वह) विरह की आँच से तप कर या संतप्त हो के पसीज पसीज कर आँखों की राह से (उसमें से) जल बहता है [भीगी हुई वस्तु को तपाकर उसमें से अर्क निकाला जाता है—इसी प्रकार विरह से तपाये हुए हृदय से नेत्रों की नली द्वारा अर्क निकलता है]

अलङ्कार—समासोक्ति

स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा[1] तीरु।
अँसुवनु करति तरौंस[2] कौ खिनकु खरौंहौं[3] नीरु ॥११८॥

अर्थ—(विरहाग्नि से संतप्त) राधिका यमुना का तट देखती हुई कृष्ण की याद करके (अपने खारे, गर्म) आँसुओं से (नदी की) निचली तह का या किनारे का पानी थोड़ी देर के लिए खारा या खौलता सा बना देती हैं।

१—तरनिजा = सूर्य से उत्पन्न कन्या = यमुना।

२—तरौंस, तर = नीचा, तरौंस = निचला भाग, नीचे की तह, किनारा, तट।

३—खरौंहौ = खारा, यदि खौरौंहौ रक्खा जाय तो अच्छा होगा और अर्थ होगा खौलता सा।

अलङ्कार —उल्लास (आँसुओं की गर्मी से पानी का गर्म हो जाना), अत्युक्ति, स्मरण।

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै[1] बरसैं नीर हूँ झर[2] हूँ मिटै न झार[3] ॥११९॥

अर्थ—हे प्रियतम तुम्हारे वियोग की अग्नि अनुपम (अदभुत और) अपार (बहुत ही अधिक) है—(इसकी यह दशा है कि साधारण अग्नि के असदृश) जल बरसने से भी (सदा रोते रहने से भी इसकी) ज्वाला बढ़ती जाती है (और ग्रीष्म के) ताप से भी नहीं मिटती। [पानी बरसने से ज्वाला कम होती है। किन्तु विरहाग्नि बढ़ती ही जाती है। तपाने या सेंकने से जले हुए अंग पर ज्वाला का प्रभाव कम हो जाता है अर्थात् जलन घट जाती है किन्तु ग्रीष्म से सेंके जाने पर भी (यदि बसंत अथवा अगहन इत्यादि होता तो न जाने क्या दशा होती) विरह जलन नहीं मिटती]

अलङ्कार —विभावना (तीसरी—प्रतिबंध वर्षा तथा ताप होते हुए भी ज्वाला बढ़ना), विशेषोक्ति, अनुप्रास

विरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि[4] कै बार।
अरी आउ भजि भीतरी बरसत आजु अँगार ॥१२०॥

१—सरसै = बढ़ती है।

२—झर = ताप, इस शब्द का प्रयोग विहारी ने तीन अर्थों में प्रयोग किया है (क) पावक की लपट—"पावक झर सी झमकि कै" (ख) मेंह की झड़ी "झर बरसाहे मेह—" दोनों "पावक झर तें मेह झर दाहक दुसह विसेखि" (ग) विरह का ताप "नेक न झुरसी विरह झर"

३—झार = ज्वाला, जलन।

४—डह कर = पीड़ित होकर, डाहना बोल चाल में प्रयुक्त भी है। पा० बहि

अलङ्कार—अत्युक्ति।

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्राननु के ईस।
विरह ज्वाल जरिवो लखैं मरिवौ भई असीस* ॥१२४॥

अर्थ—हे कृष्ण प्राणेश (प्राणों के स्वामी! उसके प्राण की रक्षा कीजिए, मैं) उसकी दशा क्या कहूँ (उसको) विरह की ज्वाला से जलती देखकर (उसका) मरना आशीर्वाद हो गया है। (यदि किसी से कहा जाय कि तू मर जा तो यह बड़ा भारी शाप होगा किन्तु वियोग में जलती नायिका से कहना कि तू मर जा अर्थात् ईश्वर से मनाना कि वह मर जाय उसके लिए आशीर्वाद है। तात्पर्य यह कि सखियाँ समझती हैं कि वह मृत्यु कष्ट से भी अधिक कष्ट इस समय सह रही है—पाठकों को स्मरण रहे कि बिहारी इस विरहिणी को मरने नहीं देंगे—उन्होंने विरह

---

* इस पर मिश्रबन्धुओं का कहना है—"मरणावस्था के कथन में रसाभास समझ कर बहुतेरे कवि मूर्छा ही का वर्णन कर लेते हैं परन्तु बिहारी ने मरण का भी वर्णन कर दिया"—यह पढते हुए भी सादर निवेदन किया जा सकता है कि "मरना आशीर्वाद होगया है" से मरना ही नहीं साबित हो गया। आशीर्वाद ऐसे वचन को कहते हैं जो दुख निवारण करे। यहाँ पर कवि का यह तात्पर्य ज्ञात होता है कि नायिका की इस दशा में 'मरना' शब्द दुख निवारण है अर्थात् यदि कोई इस शब्द का प्रयोग करे अथवा ईश्वर से इसकी प्रार्थना करे तो उस नायिका के लिए यह आशीर्वाद है—क्योंकि यदि वह मर जायगी तो विरह-दुख से बच जायगी—मरना एक आशीर्वचन होगया न कि एक अशुभ कार्य समाप्त। पाठक स्वयं समझें कि जो बिहारी मृत्यु को भी भयभीत कराना चाहते हैं (आगे का दोहा) वह भला नायिका को मरने कैसे देंगे।

की ज्वाला इतनी बढ़ा दी है कि मृत्यु भी पास आने से डर जायगी। आगे का दोहा देखिए—]

अलंकार - लेश,

नित ससौं[1] हंसौ* बचतु मनौ[2] सु इहि अनुमानु।
बिरह-अगिनि लपटनु सकतु झपटि न मीचु[†] सचानु ॥१२५॥

अर्थ —रोज (उस विरहिणी का) श्वासा रूपी हंस (मरने से) बच जाता है—सो यह अनुमान मानो (अर्थात् हे नायक इसका यह कारण समझ लो कि) विरहानल की लपटों (की करालता के कारण) से मृत्युरूपी सचान (बाज की तरह का पक्षी विशेष) झपट नहीं सकता। और नायिका का प्राण हंस बच जाता है।

१—ससौ=श्वासा का विकृत रूप ससौं का अर्थ संदेह का भी हो सकता है (संशय)—तब अर्थ यों होगा —नित्य सन्देह रहता है कि आज बचेगी कि नहीं

* हंस से प्राण की उपमा देना हिन्दी कवियों की साधारण बात है—भक्त वा योगी प्राण को हंस भी कहते हैं (जो शरीर रूपी पिंजड़े में बंद है) "कहत कबीर सुना हो हंसा आवागमन मिटाव" कबीर

२—मनौ=मानो, मान लो, समझो—'मनहुँ, पाठ रहने पर 'मन में', ऐसा अर्थ हो सकता है—अर्थात् 'इसे नित्य बचते देखकर मन में यह अनुमान है—'

† "चन्दन कीच चढ़ाय हूँ बीच परे अहि राच,
मीच नगीच न आवई रही विरहानल आंच—" शृंगारसतसई।

अलंकार —रूपक 'परंपरित' श्लेष।

विरह सुखाई देह नेहु कियौ अति डहडहौ।
जैसैं बरसें मेह जरैं जवासौ[1] जौ[2] जमै ॥१२६॥

अर्थ —विरह ने (उस विरहिणी नायिका का) शरीर सुखा डाला, (परन्तु उसका) स्नेह अत्यंत हरा भरा (डहडहा) कर दिया जैसे वर्षा होने से जवासा जल जाता है (परंतु) जौ जमता है।

अलंकार —प्रतिवस्तूपमा। अनुप्रास

देखत बुरै[3] कपूर ज्यौं उपै[4] जाइ जिन लाल।
छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल ॥१२७॥

१—जवासा—घास विशेष जो वर्षा होने से जल जाती है—तुलसी दास ने लिखा भी है कि वर्षाकाल में "अर्क जवास पात बिनु भयऊ"।

२—जौ, इस शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं (१) जड़, (जवासा ऊपर से तो सूख जाता है परंतु उसकी जड़ जमती है) किंतु यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि जड़ और पत्ते एक ही पौधे के हुए, शरीर और स्नेह दो भिन्न चीजें हैं (२) जवा, जिसका आटा होता है। किंतु जवा वर्षाकाल के बाद होता है—और जवासा आषाढ़ ही के पानी में सूख जाता है। (३) जवाकुसुम, जपाकुसुम, गुढहर, यह आषाढ ही में अधिक फूलता है और नये पौधे भी जमते हैं—अतः यही अर्थ सबसे अधिक अच्छा जान पड़ता है।

३—बुरै = बुरा (बरा, ओरा) कर, जैसे बोलते हैं कुल रुपया ओरा गया" अर्थात् धीरे धीरे एक एक करके सब समाप्त होगया। इसी प्रकार नायिका का शरीर धीरे धीरे ओरा रहा है कुछ दिनों में समाप्त हो जायगा। पा० भूर

४—उपजाना = उड़ जाना, लुप्त हो जाना।

अर्थ—हे लाल! सुन्दर बाला (तुम्हारे वियोग से) क्षण क्षण में बड़ी दुबली (क्षीण) पड़ती जाती है (अत: संदेह है वा भय है कि) कहीं देखते देखते कपूर की तरह ओरा कर (अर्थात् थोड़ा थोड़ा करके) उड़ न जाय (अर्थात् गायब न हो जाय, क्षीण होते होते कहीं शरीर ही न त्याग दे)

अलंकार—पूर्णोपमा, अनुप्रास।

नैंकु न जानी परति यौं पर्‌यौ बिरह तनु छामु।
उठति दियैं लौं नाँदि[1] हरि लियैं तिहारौ नामु ॥१२८॥

अर्थ—हे कृष्ण! (नायिका का) शरीर ऐसा दुबला (क्षाम, क्षीण) पड़ गया है कि (वह) तनिक भी नहीं जान पड़ती (कि बिस्तर पर है, उसका होना केवल इसी से जाना जाता है कि) तुम्हारा नाम लेने पर (वह) दिया की तरह नाँद उठती है (चेतन्य वा प्रकाशित हो जाती है) [विरह-दूबरे गात का वर्णन बिहारी ने खूब किया है। कहते हैं—

"दुसह बिरह दारुन दसा रह्यौ न और उपाय।
जात जात जिय राखिए पिय की बात सुनाय॥"

फिर लिखते हैं

"करके मीडे कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिनि सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय॥"

विरह का हाय कितना कठोर है—जब सदा समीपिनि सखियाँ भी नहीं पहचान सकतीं तो भला मृत्यु जिसको 'यमराज के यहाँ

१—नाद उठना, दिया बुझते समय के लाफ (last flicker) उठने को नाँद उठना कहते हैं। अंतिम बार झट से प्रकाश अधिक हो जाता है फिर दिया बुझ जाता है। प्रियतम का नाम लेने पर नायिका की यही दशा होती है।

से आकर उनके बतलाये हुए हुलिया के अनुसार ढूँढना है कहाँ पहचान सकती है। अत अधिक क्षीण होने के कारण यह नायिका मर नहीं सकती। जैसे दोहा नं० ११५ में विरह की ज्वाला ने उसकी रक्षा की उसी प्रकार नीचे के दोहा में क्षीणता उसको बचा लेगी। मृत्यु ढूँढती फिरे]

अलङ्कार —पूर्णोपमा।

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा[1] चखनु चाहैं लहै न मीचु[2] ॥१२९॥

अर्थ —(हे कृष्ण !) विरह ने (उस नायिका को) (इतनी दुबली) बना दिया है कि मृत्यु (उसको) चाहती है (उसको ले जाने के लिए आई है परन्तु क्या करे कैसे ले जाय) आँखों में चश्मा लगाने पर भी तो (उसको) नहीं पाती (ऐसा तो उसका शरीर होगया है) तिस पर भी नीच विरह (उसका) गैल (रास्ता, पेंडा, पीछा) नहीं छोडता (तुम्हीं तो इसके कारण हो—विरह से पीछा छोडा दो)।

अलङ्कार —अत्युक्ति

मरिबे को साहसु ककै बढै विरह की पीर।
दौरति ह्वै समुही ससी सरसिज सुरभि[3] समीर* ॥१३०॥

१—चसमा = चश्मा (फारसी, चश्म = आंख) = उपनेत्र।

२—मीच = मृत्यु, "नीच मीच मम लगै न मोही" तुलसीदास।

३—सुरभि = सुगन्धित।

*यह और आगे के तीन चार दोहे निम्न लिखित चौपाइयों के साथ पढ़ने चाहिएँ।

"राम वियोग कहा सुनु सीता, मों कह सकल भयउ विपरीता।
नूतन किसलय मनहुँ कृशानू, काल निशा सम निशि शशि भानू।।

अर्थ —वियोग का दर्द बढ़ने पर मरने (प्राण त्याग देने) का साहस कर करके (विरहिणी नायिका) चन्द्रमा, कमल, (और) सुगंधित वायु के सम्मुख हो दौड़ती है। [विरह में शीतल और सुखदायिनी वस्तु जलानेवाली और दुखदायिनी हो जाती हैं। यह नायिका इसी प्रकार चन्द्रमा इत्यादि से जलाई जा रही है और उनको अग्नि समझ कर पूर्ण रीति से जल जाने (मर जाने) की अभिलाषा से उन्हीं के सामने दौड़ती है। पीड़ा में दौड़ना और बेचैन होना साधारण है]

अलङ्कार —विचित्र (जलने के लिए ससि इत्यादि शीतल वस्तु के सामने आना), अनुप्रास।

✓ हौं हीं बौरी विरह बस कै बौरौ सबु गाउँ।
कहा* जानिए कहत है ससिहिं† सीतकर नाउँ॥१३१॥

अर्थ —(पतिवियोग में चन्द्रकिरणों से संतप्त नायिका कह रही है कि) मैं ही विरह में पड़ने से पागल हूं अथवा सब गाँव ही पागल है। (इस जलानेवाले) चन्द्रमा को क्या जान कर (सब लोग) सीतकर नाम का कहते हैं (या तो यही लोग पागल

कुवलय विपिन कुन्त वन सरिसा, वारिद तप्त तेल जनु बरिसा।
जेहि तरु रहौं करत सोइ पीरा, उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥"
तुलसीदास

✓*"जाहि जोहि आरत भइ मरी परी दुखफन्द।
ताहि सुधाकर क्यों कह दारद सारद चन्द॥"—शृंगारसप्तशती

†सीताजी ने शशि को कितना आग्नेय समझा है—
"दखियत प्रकट गगन अंगारा, अवनि न आवत एकौ तारा।
पावक मय शशि स्रवत न आगी, मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥"
२—सीतकर = जिसका कर (हाथ, किरण) शीतल हो, चन्द्रमा।

होकर गरम को ठंडा कह रहे हैं या मुझी को पागल होने से ठण्डा गरम सा जान पड़ता है) [इस दोहे में शब्द माधुर्य के अतिरिक्त एक बड़ा गुण यह है कि नायिका सोचती हुई सी जान पड़ती है, वह विचार मग्न है। साधारण श्रेणी के कवि नायिका की इस दशा का या तो वर्णन ही कर देंगे या नायिका से इतनी बातें कहला देंगे जो उच्च कविता के उपयुक्त न होंगी।]

अलङ्कार —सन्देह।

भौ यह ऐसोई समौ जहाँ सुखद दुख देत।
चैत चाँद की चाँदनी डारति किए अचेत ॥१३२॥

अर्थ—(प्रियतम के वियोग के कारण) यह समय ऐसा ही होगया है (कि) जहाँ (या जिसमें) सुख देनेवाली (वस्तु) दुख देती है (रामचन्द्र के शब्दों में 'मो कहँ सकल भयउ विपरीता')— चेत (मास जब वसंत का जमाना रहता है) में चन्द्रमा की (शीतल सुखदायिनी) चन्द्रिका (मुझे) अचेत किये डालती है (अति दुख देती है) [सुखद वस्तु भी अब दुख दे रही है। इस पर फिर लिखते हैं—

"औरे भाँति भयेऽब ये चौसर चंदन चंद।
पति बिन[*] अति पारत विपति मारत मारुत मंद॥"

तथा—"जिहि निदाघ दुपहर रहै भई माह की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति"]॥

---

*कंत बिन बासर बसंत लागे अन्तक से,
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।
सान करे सार से चन्दन घनसार लागे,
खेद लागे खरे मृगमेद लागे महकन॥

अलङ्कार—पाँचवीं विभावना, (अचेत होना कार्य, विरुद्ध कारण चाँदनी), अर्थान्तरन्यास।

विकसित नवमल्ली[1] कुसुम निकसित परिमल[2] पाइ।
परसि पजारति[3] विरहि हिय बरसि रहे की बाइ॥१३३॥

अर्थ—बरसते (समय) की हवा (अर्थात् वायु जो वर्षा होते समय बहती है) खिले हुए नवमल्लिका के फूलों से निकलती हुई सुगन्ध पाकर विरही (वियोग रूपी अग्नि से जलते हुए) हृदय को परस कर (स्पर्श करके) जलाती हैं (अर्थात् वर्षाकाल की मन्द मन्द सुगन्धित वायु विरहाग्नि को बढा देती है)।

अलङ्कार—विभावना (पंचम, विरुद्ध कारण वर्षा की वायु से जलना)।

याकै उर औरै कछू लगी विरह की लाइ[4]।
पजरै[5] नीर गुलाब कैं पिय की बात बुझाइ॥१३४॥

फाँसी से फुलेल लागे गाँसी से गुलाब अरु,
गाज अरगजा लागे चोवा लागे चहकन।
अङ्ग अङ्ग आगि ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन अबीर लागे दहकन॥ देव॥

१—नवमल्ली, नवमल्लिका = चमेली।

२—परिमल = सुगंध, फूलों से निकली हुई मनोहर गंध।

३—पजारति = प्रजारति, (प्र = विशेष रूप से, जारति = जराती या जलाती है)

४—लाइ = लपट, ज्वाला, आग।

५—पजरै = प्रजरै, जलती है—दे० दो० सं १३३

अर्थ —(इस विरहिणी नायिका के) हृदय में वियोग की कुछ और ही (विलक्षण) आग लगी है (क्योंकि साधारण अग्नि के अन्वहश जो जल से बुझती और वायु से प्रज्वलित होती है यह आग) गुलाब के पानी से प्रज्वलित होती है और प्राणप्रिय की बात (१—चर्चा, बात-चीत, २—वायु, हवा) से बुझती है—[एक और दोहे में गुलाबजल इत्यादि से जलने का वर्णन किया है।

"औरी परै न करै हियो खरै जरै पर जार।
लायनि धोरि गुलाब सों मिलै मलै घनसार ॥"]

अलङ्कार —भेदकातिशयोक्ति। विभावना (पाँचवीं, गुलाब से जलना, वायु से बुझना—विरुद्ध कारण से कार्य)

हितु[1] करि तुम पठयौ लगैं वा विजना[2] की बाइ[3]।
टली तपति तन की तऊ चली पसीना न्हाइ ॥१३५॥

अर्थ — हे लाल)तुमने (जो पंखा) प्रेमपूर्वक (नायिका को हाँकने के लिए) भेजा था उस पखे की हवा लगने से (उसके) शरीर का (वियोग-जनित) ताप (तो तुम्हारा प्रेमोपहार पाने से) मिट गया (परन्तु स्वेद सात्विक के कारण वह) पसीने से नहा चली [तन का ताप पसीना होने से मिटता है—पखा झलने से पसीना सूखता है]

१—हितु = भलाई, मित्रता, प्रेम, दे० दो० सं ६१।

२—विजना = व्यजन, पखा।

३—बाइ = वायु, हवा।

अलङ्कार —पचम विभावना (विरुद्ध कारण पखा झलने से पसीना होना)

कहे* जु वचन वियोगिनी विरह विकल बिललाइ¹ ।
किए न को अँसुवा सहित सुवा ति† बोल सुनाइ ॥१३६॥

अर्थ —(हे सखी वा नायक देखो वह नायिका विरह से कितनी पीडित है—उसकी दशा इसी से समझलो कि उस) वियोगिनी ने विरह-व्याकुलता में जो (शब्द) बिलला कर (बेसभार होकर) कहे थे उन शब्दों को सुनाकर सुग्गे ने (जो सयोग वश उन शब्दों को सुन लिया था) किसको रोता हुआ नहीं बना दिया [सुग्गा केवल शब्दों को दुहरा सकता है—अत उन शब्दों ही में इतनी पीडा भरी थी कि सब श्रोता रो दिये ।]

अलङ्कार —हेतु सहित अत्युक्ति, अनुप्रास, यमक

---

* कहे और किये के भूतकालिक क्रिया होने से नायिका के मर जाने का भी अनुमान किया गया है—और इसे करुण रस का दोहा मान लिया गया है—किन्तु वास्तव म यह जीवित नायिका की दूती का वचन नायक के प्रति जान पड़ता है—कहती है 'हे नायक ! जब मैं वहाँ थी अथवा जब तुमने अपने संदेश कहे तो उसे सुनकर मैं और अन्य श्रोता अश्रुपूर्ण हो गये।'

१—बिललाइ = बिलला कर, बिललाना=विवश होकर विलाप करना।

† पा० सु ।

मरी डरी[1] कि टरी विथा कहा खरी[2] चलि चाहि[3] ।
रही कराहि कराहि अति अब मुह आहि न आहि[4] ॥१३७॥

अर्थ —(हे सखी तू) खडी क्या है चल के देख (तो कि वह वियोगिनी) मरी पडी है अथवा (उसकी) व्यथा दूर हो गई (क्योंकि वह) बहुत कराह कराह के रहती थी (आह भरा करती थी) अथवा रह गई (एकाएक चुप हो गई) (इस समय) अब मुख में आह नहीं है (उसके चुप रहने से यही अनुमान होता है कि या तो वह चल बसी या प्रियतम आ गये)

अलङ्कार —अनुप्रास, संदेह, विप्सा, यमक।

विरह विपति दिनु परत ही तजे सुखनु सब अंग।
रहि अबलौंऽब[5] दुखौ भए चलाचलै जिय सग ॥१३८॥

अर्थ —(हे सखी वा प्रियतम) विरह दुख के दिन आते ही सुखों ने (तो) सब अंग छोड ही दिये (अर्थात् किसी इंद्रिय से

१—डरी = पडी है, डरी, डली, डाली, डाली हुई, पडी हुई, [र और ल एक दूसरे के स्थान में रख दिये जाते है जैसे राल = लार, पुआर = पुआल, कवर = कवल गारी = गाली]

२—खरी = खडी, (खरी शब्द बडी के अर्थ मे भी विहारी ने प्रयोग किया है दे० दो० सं० १०२, १२७ जैसे खरी प्रीति = निखरी हुई, साफ स्वच्छ, निष्कपट, बडी प्रीति) [र और ड भी अदल बदल होते है जैसे पराहै = पडाहै, भारा = भाडा, नारी = नाडी ।]

३—चाहि = देख, दे० दो० सं० १६२।

४—आहि, एक आहि का अर्थ है आह, पीडा-जनित शब्द, दूसरे आहि का अर्थ है 'है' (जैसे 'अहै') अस्ति = है से निकला है।

५—अबलों + अब = अबलौंऽब, संस्कृत में संधि नियमों के अनुसार।

मुझे सुखानुभव नहीं होता था) केवल दुख ही दुख था, परन्तु इस समय तो यह दशा है कि) दुख भी अब तक (अंगो के साथ) रह कर अब प्राण के साथ चलाचल ही हुए हैं (चलने को अब तैयार ही हैं—अत हे प्राणपति तुम चाहो तो आकर प्राणों को रख लो) [विपत्ति इतनी पड़ी कि सुखो से तो सही ही नहीं गई किन्तु अब दुखो से भी नहीं सही जाती—और प्राण से भी नहीं सही जाती। अत दोनो अब इन अगो वा शरीर को छोड़ना ही चाहते हैं]

अलङ्कार —अतिशयोक्ति।

*परनु भलैा वरु विरह तैं यह निहचय[१] करि† जोइ[२]।
मरन मिटै दुखु एक कौ विरह दुहूँ दुखु होइ ॥१२९॥

---

*इस दोहे का एक और भिन्न अर्थ किया गया है—नायिका के विरह से मर जाने के बाद नायक को धैर्यावलम्बन करने के लिए सखी वा सखा का वचन माना गया है—पाठक स्वय समझ सकते हैं कि उत्तरार्द्ध की युक्ति (argument) अतिपीडित परन्तु जीवित दशा में दी जाती है—इससे प्रेम का आधिक्य सूचित होता है—सचमुच मर जाने पर यह युक्ति कोइ नहीं देता क्योंकि जितना ही नायिका का प्रेमाधिक्य और विरह व्याकुलता नायक सुनगा उतनाही उसे ऐसी प्रेमिका के मरने और उस समय पर अपने उपस्थित न होने का अति क्लेश होगा। धीरज ऐसे समझानेवालों को धोखा देकर भाग निकलेगा और संभव है कि नायक आत्महत्या कर दे—जब एक का दुख छूटा तो दोनों का क्यों न छूट जाय।

१—निहचय = निश्चय, श बहुधा ह हो जाया करता है जैसे निश्चल निहचल (दो० २०)। पा० विचार।

† पा० चित।

२—जोइ = जोय = देखो, टे० दो० सं० ४।

अर्थ.—(हे सखी) यह निश्चय करके देख लो (समझ लो) कि विरह (का दुख सहने) से मरना ही (मृत्यु ही का दुख सहना) अच्छा है (क्योंकि) मर जाने से एक (अर्थात् मरनेवाले का दुख मिट जाता है (किन्तु) विरह में दोनों को दुख होता है।

अलङ्कार —लेश, काव्यलिंग (मरना भला है, इसका समर्थन उत्तरार्द्ध से है)

कौड़ा[१] आँसू बूँद कसि* साँकर[२] बरुनी[३] सजल।
कीने बदन निमूँद[४] दृग मलिग[५] डारे[६] रहत ॥१४०॥

१—कौड़ा = बड़ी कौड़ी कपर्द।

* पा० करि।

२—साँकर = जंजीर, सिकरी शब्द छोटी जंजीर वा आभूषण विशेष के अर्थ में प्रयुक्त है।

३—बरुनी = बरवनी, नेत्र के ऊपर नीचे के बाल, (brow—हिन्दी और अंगरेजी शब्दों की समानता देखिए)—सजल रहने पर बाल एक दूसरे से मिल हुए जंजीर-सदृश दीख पड़ते हैं।

४—निमूँद, नि शब्द दो भिन्न अर्थों में आता है (१) विशेष रूप से जैसे निगूढ़ = अति गूढ़, निकुंज = विशेष कुंज (दे० दो० ३) (२) अभाव-सूचक जैसे निकाम = बिना काम वा इच्छा का, निछिद्र = छिद्रहीन निमूँद के दो अर्थ हो सकते हैं बंद और खुला और दोनो यहां उपयुक्त हो सकते हैं, किंतु पहला अच्छा होगा क्योंकि बरनी साँकर कसे है। कसला से बंद ही रहना अधिक अनुमान होता है। फिर मलंग बहुधा मौन रहते हैं (कभी कभी हक हक भी रटा करते है) अत नेत्र मुख बंद होना चाहिए। फिर ईश्वर (प्राणपति) का ध्यान बंद आँखों से अधिक हो सकता है, गो कि टकटकी लगाये भी अच्छा ध्यान हो सकता है।

५—मलिङ्ग एक प्रकार के फकीर मुसल्मानों में होते हैं जो कौड़ो की लड़ो और जंजीरों से शरीर कसे रहते है।

६—डारे = डाले = अपने शरीर को डाले हुए = पड़े हुए।

अर्थ —(वियोगिनी नायिका के) नेत्ररूपी मलंग आँसुओं की बूँद रूपी कौड़ों (और) अश्रुपूर्ण वरुणी रूपी जंजीर कसे (धारण किये) हुए मुख बंद किये पड़े रहते हैं (अर्थात् नायिका हर घड़ी रोती हुई आँख बंद किये प्रियतम के ध्यान में निमग्न रहती है)

अलंकार —रूपक।

ध्यान आनि ढिग प्राणपति रहति मुदित दिन राति।
पलकु कँपति पुलकति पलकु पलकु पसीजति जाति॥१४१॥

अर्थ - (विरहिणी नायिका) प्रियतम को ध्यान में (अपने) पास लाकर रात दिन प्रसन्नचित्त रहती है—कभी (पलकु = एक पल में, पल मात्र में, किसी पल में, कभी) काँपती, कभी पुलकायमान होती (और) कभी पसीजती (स्वेदयुक्त होती) जाती है—(अर्थात् कंप, पुलक, स्वेद सदा जारी है)।

अलंकार —कारक दीपक (एक कर्ता कई क्रियायें), अनुप्रास

सकै सताइ न तमु बिरहु निसि दिन सरस सनेह।
रहै वहै लागी दृगनु दीपसिखा सी देह॥१४२॥

अर्थ —(मुझे अथवा नायक को) वियोगरूपी अंधकार नहीं सता सकता (क्योंकि मेरी या उसकी) आँखों से रात दिन (नायिका की) वही रसीली (स+रस) स्नेहयुक्त (स+नेह) दिया की टेम सी देह लगी रहती है (अर्थात् आँखों के सामने ही उस गौरांगिनी के रहने से विरहरूपी अँधेरा प्रकाशमान हो जाता है। नायक सदा नायिका के ध्यान में मग्न रहता है)

अलङ्कार —पूर्णोपमा, रूपक, श्लेष, अनुप्रास।

नैंक न झुरसी बिरह झर नेह लता कुम्हिलाति।
नित नित होति हरी हरी खरी झालरति[1] जाति॥१४३॥

१—झालरति, झालर से क्रिया बनाई गई है। लता के डार पत्ते वास्तव में झालरही सरीखे होते हैं। अत यह शब्द उपयुक्त है।

अर्थ —(नायक वा नायिका की) प्रेमलता विरह की ज्वाला वा ताप से झुलसी हुई तनिक भी नहीं कुम्हिलाती। (उलटे) नित्य-प्रति हरी भरी होती (और) डार पत्तों से संपन्न अर्थात् भरपूर होती जाती है (विरह का यह प्रभाव देखिए)

अलङ्कार —विशेषोक्ति, पाँचवीं विभावना (विरह ज्वाला विरुद्ध कारण से हरी हरी इ० होना कार्य की उत्पत्ति), रूपक।

छतौ[1] नेहु कागर[2] हियैं भई[3] लखाइ न टाँकु[4]।
बिरह तचैं[5] उघर्यौ[6] सु अब सेँहुड़* कै सो आँकु[7] ॥१४४॥

१—छतौ, इस शब्द का एक अर्थ तो हो सकता है 'था' "प्रस्तुत होते हुए"—अर्थात् प्रेम था परन्तु गुप्त था वा प्रेम रहते हुए भी लखाई न पड़ा इत्यादि। दूसरा अर्थ हो सकता है गुप्त, अप्रकट [क्षत = नष्ट, बिगड़ा, अथवा छद् = छिपाना से निकला हुआ]—कवियों ने अछत (अ छत) शब्द का प्रयोग होते हुए, रहते हुए के अर्थ में किया है। बोल-चाल में भी ऐसा बोल लेते हैं। अत यही दूसरा अर्थ अधिक ठीक जान पड़ता है। "परसु अछत देखौं जियत वैरी भूप किसोर" —तु० दा०।

२—कागर = कागद = कागज।

३—भई = हुई, भू = होना, भया, भो इत्यादि इसके रूप हे, भव भी इसी से निकला है।

४—टाकु = टाँका हुआ, लिखावट—इस शब्द का अर्थ 'बहुत थोड़ा' भी ले सकते हैं (टाक = एक छोटा तौल परिमाण —अर्थात् तनिक भी लखाई न पड़ा)।

५—तचैं = तपने पर, दे० दो० सं० ११७।

६—उघरना = खुलना, प्रत्यक्ष वा [illegible]
निबाहू" तु० दा०।

*सेहुँड से सफ़ेद
से उघर आता है।

७—आँकु = अक्षर
"कहत सबै बेंदी दिये

अर्थ —हृदयरूपी कागद में प्रेम छिप गया, लिखावट लक्षित न हुई। वह (लिखावट अर्थात् प्रेम) अब विरह से तपने पर सेंहुड के आँक ऐसा उधर गया (जैसे सेंहुड के दूध से लिखे हुए अक्षर सूख जाने पर लखाई नहीं देते। परन्तु आग पर कागज को सेंकने से वे अक्षर फिर प्रकट हो जाते हैं। साथ रहने पर प्रेम छिप सा गया था। साधारण जीवन में ऐसा मिल गया था कि किसी विशेषरूप में नहीं दिखलाई पड़ता था। परन्तु वियोग होजाने पर अब अनुभव हो रहा है। वास्तव में विरह प्रेम की कसौटी है जो उसको सोने की तरह गलाकर निखार देती है और शुद्ध रूप में प्रकट कर देती है)

अलङ्कार —पूर्णोपमा

सोवत जागत सुपन बस रस रिस चैन कुचैन।
सुरति श्यामघन की सु रति[1] बिसरैं हूँ बिसरै न†॥१४५॥

अर्थ —(हे सखी मेरी तो विरह में यह दशा होगई है कि) सोते, जागते, स्वप्न में, रस (आनन्द) में, रिस (क्रोध इत्यादि) में, चैन (आराम) में बेचैनी में (सर्वदा, हर दशा में) कृष्ण (घन जैसे श्याम शरीरवाले प्रियतम) की सुरति (स्मृति अथवा शक्ल जो है) सो भूलने (भुलाने) से भी तनिक भर नहीं भूलती। अथवा घनश्याम की सुरति (सु+रति, सुप्रेम, प्रीति) की सुरति (याद) भुलाने से भी नहीं भूलती।

१—रत्ती, रत्ती भर, तनिक भर।

†"देव रही हिय में घर के न रुकै बिसरै बिसरै न बिसारी"।

प्रेमचन्द्रिका

["वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन विसारौं।
जोग जुगुति अरु मुकुति विधि वा मुरली पर वारौं" ॥
कृष्णगीतावली तु० दा०]

अलङ्कार.—विशेषोक्ति, यमक।

जाति मरी बिछुरी घरी जल सफरी[1] की रीति*।
खिन खिन[2] होति खरी खरी अरी जरी[3] यह प्रीति ॥१४६॥

अर्थ —(हे सखी मैं तो) जल सफरी की भाँति घड़ी भर (भी) बिछुरी हुई मरी जाती हूँ (तनिक भी वियोग असह्य हो गया है)। अरी (सखी) यह जरी प्रीति (तो) क्षण क्षण (में) बढ़ती (ही) जाती है। [इस दोहा के शब्दों का माधुर्य देखिए। विद्यापति ने लिखा है "सेई परित अनुराग बखनइत तिले तिले नूतन होइ"]

१—सफरी = एक प्रकार की छोटी छोटी चमकीली मछली जो बहुत फरफर फरफर किया करती है—इसको पूँठी भी कहते हैं और सफरी भी। संस्कृत में एक कहावत है "गडूषजलमात्रेण सफरी फरफरायते।" देव कवि कहते है "लौटि लौटि परति करौट खटपाटी लैलै, सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति"।

२—खिन = क्षण (छन) छिन, खिन।

३—जरी (भूतकालिक क्रिया) = जली, स्त्रियाँ बहुधा इस शब्द का प्रयोग करती हैं। यह गालीसूचक शब्द है। इसी प्रकार मुई और मरी का भी प्रयोग है "वह मुई कहाँ आ रही है"। अर्थात्, मरी हुई (जीवित दशा में—ऐसे शब्दों का अर्थ केवल इच्छासूचक ही समझना चाहिए), यदि मेरे अधिकार की बात होती तो वह अब तक मरी हुई होती। अर्थात् वह मार डालने योग्य है। इसी तरह जरी का अर्थ है जरा देने योग्य।

अलङ्कार —लोकोक्ति, उपमा, अनुप्रास, वीप्सा।

रह्यौ ऐंचि[1] अतु न लहैं अवधि* दुसासन[2] वीरु।
आली वाढतु विरह ज्यौं पचाली[3] को चीरु ॥१४७॥

अर्थ—हे सखी (प्रियतम के आने का दिन अर्थात् विरह-काल की अवधि तो नियत है तथापि मेरा) विरह (वियोग दुख) द्रौपदी के वस्त्र की तरह बढ़ता (ही) जाता है, अवधिरूपी दु शासन वीर (उसे) खींच रहा है (परन्तु) अत नहीं पाता (विरह-काल की सीमा ज्यों ज्यों निकट आती जाती है, अर्थात् दिन व्यतीत होते हैं त्यों त्यों यह दुखदाई काल देखने में कम होता जा रहा है, परन्तु मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वास्तव में उसका अत मिल ही नहीं सकता। प्रियतम मिलन की प्रतीक्षा में एक

१—ऐंचना, इचना, (हींचना), खैंचना, (खींचना)

* अवधि स्त्रीलिंग है इसका रूपक दु शासन से करना दोष माना जाता है। एक प्रकार से यह दोष तो अवश्य है किंतु यह कोई दोष में दोष नहीं है "अचेतन के निरूपण में लिंगसाम्य की परवा कवि लोग नहीं करते" (प० पद्मसिंह शर्मा) अन्य महाकवियों ने भी भिन्न लिंग के उपमेय और उपमान रक्खे हैं। जैसे 'प्रिय' पुँल्लिङ्ग और 'अँगुली' स्त्रीलिंग (रघुवंश)

२—दुसासन, दु + शासन, जिस पर शासन करना अति कठिन हो, दुर्योधन का छोटा भाई और मंत्री।

३—पचाली = पचाल नगर की राजकन्या, द्रौपदी। पचाल देश का नाम ब्राह्मण उपनिषद् इत्यादि प्राचीन पुस्तकों में भी पाया जाता है। यह गगा नदी के दोनों ओर बसा था। इस देश के पचाल नाम पड़ने के कई कारण पुराणों में दिये हैं।

एक घड़ी एक एक बरस, दो दो बरस, तीन तीन बरस इत्यादि के बराबर होती चली जा रही है।)

अलङ्कार —पूर्णोपमा, रूपक।

विरह-विथा* जल परस बिन बसियतु मो मन ताल।
कछु जानत जलथंभ[1]विधि दुर्योधन[2] लौं लाल॥१४८॥

अर्थ —हे प्रियतम (मुझे जान पड़ता है कि तुम भी) दुर्योधन की नाईं कुछ जलस्तम्भविधि जानते हो (क्योंकि) मेरे हृदयरूपी ताल में (जो वियोग के दुखरूपी जल से भरा है) बिना विरह-व्यथा जलस्पर्श के (तुमसे) बसा जाता है (अर्थात् मेरे हृदय में वास करने से उसमें जो व्यथा है वह तुमको भी लगनी चाहिए थी, किंतु तुमको मेरी हृदय की पीड़ा का अनुभव न होने से ज्ञात होता है कि तुम कोई दुर्योधन की सी विद्या जानते हो [नायिका की उक्ति तथा प्रियतम को पत्र द्वारा बुलाने का उपाय देखिए]

---

*'विथा' उपमेय स्त्रीलिंग, 'जल' उपमान पुँल्लिङ्ग दे० दो० सं० १४७।

१—जलथंभविधि, ऐसा कोई प्रयोग जिससे पानी का प्रभाव ठहर जाय अर्थात् जिससे पानी असर न कर सके, दुर्योधन जलस्तम्भनक्रिया जानने से ताल में छिप रहा और पानी का कुछ प्रभाव उसके ऊपर न पड़ा।

२—दुर्योधन = जो कठिनता से जीता जाय, भारी योधा, धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र। 'दु' शब्द को अच्छा न समझ कर महाराज युधिष्ठिर इनको सुयोधन कहा करते थे।

अलङ्कार—पूर्णोपमा, रूपक।

बाल बेलि सूखी सुखद[1] इहि रूखी[2] रुख[3] घाम।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि घनश्याम ॥१४९॥

अर्थ—हे घनश्याम! (१ बादलों के रंग की तरह श्याम, कृष्ण २ पानी से लदे होने के कारण श्याम रंगवाले बादल) बालारूपी सुखदायिनी लता इस (तुम्हारी) रूखी चेष्टारूपी धूप से सूख गई है (१ बहुत ही दुबली होगई है। २ वर्षा न होने से सूख गई है। अब आप (इसको) सुरस (सु+रस, स्व+रस, १ सुन्दर वा अपने प्रेम, २ सुन्दर वा अपने जल) से सींचकर फिर डह

१—सुख+द, यह संज्ञा विशेषण घनश्याम के साथ भी लगाई जा सकती है अर्थात् हे सुखद (श्रीकृष्ण) यह बालारूपी बेलि इत्यादि। यह अर्थ भी अच्छा है, क्योंकि घनश्याम और श्यामघन दोनों ही इस प्रसंग में सुखद हैं। किन्तु दिया हुआ अर्थ इससे भी अच्छा है, क्योंकि सुखद बेलि को सींचने की आवश्यकता है—किसी भी बेलि को नहीं। उसके सींचे जाने से वह स्वयं तो हरी भरी हो ही जायगी, अन्य लोगों को भी सुख पहुँचेगा।

२—रूखी = रूठी, अरुचिकर (जैसे रूखा वचन, रूखी रोटी, रूखा घाम)।

३—रुख—शब्द फारसी = मुख, उर्दू हिन्दी में इसका अर्थ चेष्टा और दिशा भी होता है। उर्दू में इसे पुँल्लिङ्ग बोलते हैं। परन्तु हिन्दी में पुँल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग दोनों में बोला जाता है। बिहारी ने इसे स्त्रीलिङ्ग ही माना है। "रस की सी रुख ससिमुखी हँसि हँसि बोलत बैन" किसी किसी पाठ में रुखे कर के रुख को पुँल्लिङ्ग कर दिया है।

डही (१ प्रफुल्लित, प्रसन्नचित्त, २ हरी भरी) कीजिए [मतिराम लिखते हैं—

"वाल अलप जावन भई, ग्रीषम सरित सरूप।
अब रस परिपूरन करौ, तुम घनश्याम अनूप" ॥]

अलंकार —रूपक, श्लेष, परिकुरांकुर, अनुप्रास।

मानु करत वरजति न हौं उलटि दिवावति सौंह।
करी रिसौंही जाहिंगी* सहज हँसौंहीं भौंह ॥१५०॥

अर्थ —(हे वाला) मैं (तुझे) मान करते वरजती नहीं उलटे शपथ दिलाती हूँ (यह मत समझो कि मैं तुझे मान करने से रोकती हूँ। तू मान अवश्य कर, किन्तु क्या तुझसे अपनी) स्वभाव ही से हँसीली भौंहें रोषयुक्त की जायँगी? (अर्थात् तेरा स्वभाव ही ऐसा है कि तुझसे मान न किया जायगा)।

[सच पूछिए तो मान करने से वरजने के लिए इससे अधिक प्रभाव डालनेवाले वचन ढूँढने से भी न मिलते। एक स्थान पर फिर कहा है "रूखे कैसे होत ये नेह चीकने नैन"। दोहे में 'उलटि दिवावति सौंह' पर विचार कीजिए। सखी उलटे सौंह (हँसौं) दिलाती है। अर्थात् हे नायिका हँसो, मान मत करो—एक समय नायिका ने झूठ मूठ का मान किया, परन्तु नेत्रों ने धोखा दे ही दिया। अत कहती है

"हौं कसुकै रिस के करौं ये निसुके हँसि देत"]

अलङ्कार —आक्षेप।

---

* पा० जायँगी, जाइगी।

हा हा[1] बदनु उघारि दृग सफल करैं सब कोइ।
रोज[2] सरोजनु[3] कैं परैं हँसी ससी[4] की होइ ॥१५१॥

अर्थ — हा, हा, (सखी तू मान किये अपना चन्द्रमुख छिपाये क्या बैठी है मैं प्रार्थना करती हूँ तू अपना) मुँह खोल (ताकि हम) सब कोई (उसका सौंदर्य देखकर अपने) नेत्र सुफल करें। (और उसकी कोमलता देखकर) कमलों के (घर) रोना पड़े (तथा उसकी शोभा के मारे) चन्द्रमा की हँसी होय।

अलङ्कार — प्रतीप (मुख उपमेय से सरोज और ससि उपमान का अनादर)।

वाही दिन* तैं ना मिट्यौ मानु† कलह कौ मूलु।
भलें पधारे पाहुने ह्वै गुडहर कौ फूलु ॥१५२॥

१—हा हा—ब्रजभाषा में सविनय संबोधन सूचक—इसका अर्थ यों भी कर सकते हैं कि 'मैं हाय हाय करती हूँ तू अपना मुख खोल दे'।

२—रोज पड़ना = १ रोना पड़ना (जायसी ने भी इसी अर्थ में रोज शब्द का प्रयोग किया है "परजापती हँसी और रोजू" "जहाँ हँसी तहाँ रोज") २ बुरे दिन आ पड़ना।

३—सरोज = सर या तालाब में उत्पन्न होने वाला, कमल। इससे नायिका के कमलनेत्र का अर्थ भी ले सकते हैं। (अर्थात् तुम्हारा रोप देखकर उनके बुरे दिन आ जायँगे।)

४—ससी = शशि = चन्द्रमा। इससे सपत्नियों के चन्द्रमुख का अर्थ भी ले सकते हैं।

* पा० निसि।

†टीका में मान शब्द संबोधन में समझा गया है। कुछ विद्वान् लोग इस दोहा का सम्बोधन नायक प्रति मानते हैं और नायक को दोषी

अर्थ —हे मान, कलह की जड, तू उसी दिन से (कोई दिन विशेष जब दम्पति ने एक दूसरे से मान ठाना था) नहीं मिटा। (तुम) गुडहर के फूल होकर भले पाहुने पधारे (अर्थात् हे मान जैसे अड़हुल का फूल जहाँ रहता है वहाँ कलह पैदा किये रहता है वैसे ही तू जब से आया तब से कलह हुआ है और अब तक मिटा नहीं, तू अच्छा मेहमान रहा। जब से आया दुख ही देता रहा।) [मान वास्तव में मेहमान ही की तरह थोडी देर के लिए आता है। अत चतुर सखी दम्पति को यह जनाना चाहती है कि मेहमान को आये बहुत दिन हो गये अब विदा करना चाहिए]।

अलङ्कार —रूपक, पर्यायोक्ति।

पतिरितु औगुन गुन बढत मानु माह[1] कौ सीतु[2]।
जातु कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी[3] मनु नवनीतु[4] ॥१५३॥

अर्थ —पति के अवगुण से (पत्नी का) मान (और) ऋतु के गुण से माघ की ठण्ड बढती है, (इसके कारण) अति मृदुल

ठहराकर इसका अर्थ निकालते हैं। किंतु उपर्युक्त अर्थ सहज और साधारण है।

१—माह = माघ (का महीना) दे० दो० सं० १२२।

२—सीतु = शीत, ठंडापन।

३—रवनी = रमनी, रमणी, जिसमे रमण किया जाय, स्त्री, इस शब्द का प्रयोग तुलसीदास ने भी किया है।

"गर्भ स्रवहि अवनिप रवनि, सुनि कुठार गतिघोर"।

४—नवनीत = मक्खन, नैनू।

(कोमल) स्त्री का मन (और मुलायम चिकना) नैनू कठोर (१ निष्ठुर २-कडा) हो जाता है (अर्थात् पति में जितना ही अवगुण होगा उसकी स्त्री उससे क्रुद्ध रहेगी और उसका कोमल हृदय कठोर होता जायगा और जाडे का मौसिम जितना ही गुणवान् होगा अर्थात् जितना ही जाडा अधिक पडेगा उतनी ही ठण्ड बढती जायगी और मुलायम नैनू कठोर होता जायगा। लल्लूलालजी ने इस दोहे का बहुत ही स्पष्ट अर्थ एक दोहे में लिखा है।

"पति अवगुन ऋतु के गुनन बढत मान अरु शीत।
होत मान तें मन कठिन शीत कठिन नवनीत ॥")

[यह दोहा कितना उत्कृष्ट, यथार्थ तथा शिक्षाप्रद है विशेषत विवाहित पुरुषों के लिए]।

अलङ्कार —यथाक्रम।

छकि रसाल[1] सौरभ सने मधुर माधुरी[2] गंध।
ठौर ठौर भौंरत झँपत भौंर-भौंर मधु अंध ॥१५४॥

अर्थ —(वसंत की बहार देखो) आम के बौरों की सुगंधि से छक कर (अघा कर, मस्त होकर, और) वासंती लता की मीठी

१—रसाल = आम "नव रसाल वन विहरन शीला। तु० दा०।

२—पा० माधवी, माधवी = वासंती लता, एक प्रकार की चमेली होती है—माधुरी इस शब्द का अर्थ कोषों में मधुर शब्द ही से निकाला है किन्तु Bate साहेब ने इसका एक अर्थ "Arabian Jasmine" अरबी चमेली भी दिया है।

सुगंध से सने हुए पुष्परस से अंधे (मकरंदरूपी मद पान करके मस्त हुए) भौंरों के झुंड जगह जगह झौंरते और झँपते हैं (भ्रमते, मँडराते, झुकते, टूट पड़ते हैं) [यह दोहा किसका वचन है और किसके प्रति यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता—कवि की उक्ति, सखीवचन मानिनी नायिका प्रति, नायिकावचन नायक प्रति इत्यादि इत्यादि भिन्न भिन्न अभिलापायुक्त हो सकता है]

अलंकार—स्वभावोक्ति (वसंत ऋतु का स्वाभाविक वर्णन)

अंत मरैंगे चलि जरैं चढ़ि पलास* की डार।
फिर न मरैं मिलिहैं अली ए निरधूम अँगार ॥१५६॥

अर्थ—(वसंत में पुष्पित पलास को देखकर और लाल लाल फूलों को आग के गोले समझ कर विरहिणी नायिका कहती है) हे सखी अंत में (विरहाग्नि में जलकर) मरना तो है ही (ऐसा सोचकर) चलो पलास की डाली पर चढ़ कर जल मरैं (नहीं तो) फिर मरने के लिए ऐसे विना धूएँ के अँगार नहीं मिलेंगे। (और धूँआ रहने पर नेत्रों तथा हृदय को अधिक कष्ट होगा। सत्य है–विरहरूपी अग्नि में आहरूपी धूँआ भी रहता है तथा स्वाभाविक आगों में भी धूँआ रहता है)।

अलङ्कार—भ्रांति

*बाबू हरिश्चन्द्र लिखते हैं—वसंत में "फूलेंगे प[illegible] सी लगाय कूर" कर्पूरमंजरी।

अर्थ —हे प्राणपति ! वर्षाकाल में विदेश जाते (समय मुझे) प्यारी कहते (तुम) लजाते नहीं (यदि मैं तुम्हारी प्यारी होती तो तुम मुझको इस ऋतु में अकेली छोड़कर विदेश न जाते क्योंकि विरह में मेरे प्राण निकल जायँगे और जो प्यारी होती है उसका प्राण नहीं लिया जाता। इससे मालूम होता है कि तुम मुँह से तो प्यारी कहते हो, किंतु हृदय से मुझे मारने पर तैयार हो। इस दोरंगी चाल पर लज्जित हो। हे प्राणेश ! जो आप रहकर मेरे प्राणों की रक्षा करना नहीं चाहते तो मुझे) वामा (कुटिला वा कटूक्ति कहनेवाली), भामा (क्रोधी), कामिनी (कामवती, स्वार्थी) कहके बोलो (तभी तुम्हारे हृदय और मुख की बातें एक हो जायँगी)।

अलंकार —परिकुरांकुर।

घन[1] घेरा छुटि गौ हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियौ सुचैनो आइ जगु सरद सूर नरनाह[2]॥१६१॥

अर्थ —(वर्षाऋतु के बाद शरद्‌ऋतु आगई अब) शरद्‌रूपी शूर नृपति ने आकर जगत को सुखी और शान्तिमय कर दिया। बादलों का घेरा एवं डाकुओं और घातकों का घेरा छूट गया (और) चारों ओर हर्षपूर्वक रास्ते चलने लगे (अर्थात् लोग आने जाने लगे) [कवि की उक्ति अथवा सखीवचन—अत हे नायिका, तुम्हारे प्रियतम भी अब आ जायँगे]।

अलंकार —श्लेष (घन = १ बादल २ मार डालनेवाला), रूपक।

---

१ घन = १ बादल २ मार डालनेवाला, घातक, डाकू इत्यादि जो वीर राजा के आने से भाग जाते हैं।

२—नर + नाह = नृपति, राजा।

*लगत सुभग[1] सीतल किरन निसि सुख दिन अवगाहि[2]।
माह ससी भ्रम सूर त्यों† रहति चकोरी चाहि[3] ॥१६२॥

अर्थ —(सूर्य ऐसा तापरहित हो गया है कि) सुन्दर (सुहावनी) शीतल किरण के लगते (स्पर्श से) रात्रि का आनंद दिन (ही) में पाकर माघ के महीने में चकोरी चन्द्रमा के भ्रम से सूर्य (ही) की ओर (त्यौं = ओर, तरफ, दिशा) देखती रहती है।

अलंकार.—भ्रांति (सूर्य को चन्द्रमा समझना)।

---

*हेमंत में दिन घटने और रात्रि बढने का वर्णन कवि ने यों किया है।

"आवत जात न जानिये तेजहि तजि सियरान,
घरहि जँवाई लौं घट्यौ खरो पूस दिनमान।"
"ज्यों ज्यों बढ़त विभावरी त्यों त्यों बढत अनंत,
ओक ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमन्त।"

(सियरान = ठंडा हो गया। "सियरे बदन सूखि गये कैसे" तु० दा०, जँवाइ = जामात = दामाद, विभावरी = रात्रि, ओक = घर)

१—सुभग = सुन्दर।

२—अवगाहि = डूब कर, निमग्न होकर, पाकर।

† पा० तन।

३—चाहना = देखना, दे० दो० सं० १४८।

जोन्ह नहीं यह तमु वहै किए जु जगत निकेतु।
होत उदै ससि के भयौ मानहु ससहरि[1] सेतु ॥१६३॥

अर्थ —(हे सखी !) यह (उजाला जो तुम देख रही हो) चाँदनी नहीं है (यह वास्तव में) वही अंधकार है जो (सारे) संसार में घर किये है [विरहिणी नायिका को समस्त संसार अंधकारमय दिखाई दे रहा है] चन्द्रमा के उगने पर डर करके मानो (यह अंधकार) श्वेत हो गया है (यह सफेदी चंद्रिका की नहीं है क्योंकि वह तो शीतल होती है और तापहरण करती है। यह तो मुझे और जलाये देती है)।

अलङ्कार —उत्प्रेक्षा (चाँदनी मानो भय से श्वेत हुआ अंधकार है) अपह्नुति (जोन्ह का निषेध कर उसको अंधकार कहा है)

रुनयौ साँकरैं कुंजमग करतु झाँझि[2] झकुरातु[3]।
मंद मंद मारुतु तुरँगु खूँदतु[4] आवतु जातु ॥१६४॥

१—ससहरि = भयभीत होकर।

२—झाँझि = झँझ करता हुआ, शरारत करता हुआ।

३—झकुरातु = झकोर लेता है, झूमता है, झोंका लेता है।

४—खूँदतु = खूँदता है। खूँद करना घोड़े के टाप उठाने, फिर चपलता से पटकने और अस्थिर रहने को कहते हैं। दूसरा अर्थ इसका कुचलना, विदलित करना है। विरहिणी नायिका कहती है कि सुहावने स्थान में यह सुहावना पवन इस समय मुझे चचल घोड़े की तरह खूँदे डालता है, मुझे बेचैन किये डालता है। पा० खूँदिन, खूँदनि।

अर्थ —संकीर्ण कुंज मग में रुका हुआ झँझ करता (और) झोंका लेता हुआ पवनरूपी घोडा मन्द मन्द (मन्द चाल से) आता जाता खूँदी करता है (वा खूँदी करता हुआ आता जाता है) [विहारी ने पवन का बहुत अच्छा वर्णन किया है। लिखते हैं

"चुवत सेत मकरन्द कन तरुतरु तर विरमाय।
आवत दक्षिण देस से थक्यो बटोही वाय" ॥
"रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर ॥"]

अलङ्कार —रूपक।

तन्त्रीनाद[1]कवित्त रस सरस राग रति रंग* ।
अनबूडे बूडे तरे जे बूडे सब अंग ॥१६५॥

अर्थ.—तन्त्रीनाद (वीणा, सितार इत्यादि का स्वर), काव्य-स्वाद, रसयुक्त गाना वा स्नेह (और) प्रेम (रतिरङ्ग = प्रीति) में अनबूडे (जो बूडे नहीं हैं अर्थात् थोडी दूर गये हैं परन्तु अभी बूड नहीं गये सो) बूडे (बूड गये, नष्ट हो गये, कहीं के न हुए, परन्तु) जो सर्वांग डूब गये (अर्थात् इनमें लीन हो गये, वास्तव में वही) तरे (अच्छे रहे, सुधर गये) [इनमें लवलीन हो जाना चाहिए और नहीं तो इनके पास ही नहीं आना चाहिए। दूसरा अर्थ यों भी कर सकते हैं कि जो इनमें नहीं बूडे वे बूड गये अर्थात् संसार में उनका जन्म लेना व्यर्थ हो गया। और जो इनमें डूबे वही वास्तव में आनन्दपूर्वक संसार पार होगये]

अलङ्कार —विरोधाभास (जो डूबे सो तरे इत्यादि), अनुप्रास।

१—तन्त्री + नाद = तार का बाजा + शब्द = सितार इत्यादि का शब्द।

* देव कवि कहते हैं "बैठो गांढि गहिरे लौं बैठो प्रेम घर में" प्रेम-चन्द्रिका।

चटक न छाँडतु घटत हूँ सज्जन नेह गँभीर ।
फीकौ परै न वरु फटै रँग्यौ चोल रँग[1] चीर ॥१६६॥

अर्थ—सज्जन (मनुष्यो) का गभीर (पक्का) प्रेम घटने से भी (हीन दशा में होने से भी, प्रेमपात्र के प्रेम सँभालने के अयोग्य हो जाने से भी) चटक रङ्ग (अपना चटकीलापन) नहीं छोड़ता (जैसे) चोल रङ्ग में रँगा हुआ वस्त्र फीका नहीं पड़ता (अपना रङ्ग नहीं छोड़ता) चाहे वह फट ही (क्यों न) जाय।

अलङ्कार—प्रतिवस्तूपमा।

इहीं आस अटक्यो रहतु अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहै फेरि† वसंत ऋतु इन डारनु वे फूल ॥१६७॥

अर्थ—भौंरा गुलाब की जड़ (फूल झड़े हुए ठूँठे डन्ठल) में इसी आशा में अटका (लिपटा) रहता है (कि) फिर वसंत ऋतु में इन डालियों में वही फूल लगेंगे (जिनको गत वसन्त में देखा था यद्यपि वर्तमान समय में उससे यह कहा जा रहा है कि

"जिन दिन देखे वे सुमन गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कँटीली डार॥")

१—चाल (मजीठ) लकड़ी को औटा कर लाल रङ्ग निकालते है। इसमें तेल या लाह या रस इत्यादि मिलाकर पक्का रङ्ग बनाते है जिसको चोलरङ्ग कहते है। नेह शब्द (नेह = १ प्रेम २ तेल) के प्रयोग मे चतुरता भरी है।

† पा० बहुरि।

[जिनसे लाभ हुआ था उनके समयपरिवर्तन में भी विचारवान् लोग उनका साथ नहीं छोडते]

अलङ्कारः—अन्योक्ति (भ्रमर के बहाने)।

मोरचन्द्रिका[1] स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमानु[2]*।
लखिबी[3] पाइनु पर लुठति सुनियतु राधा मानु ॥१६८॥

अर्थ —हे मोरचन्द्रिका (तू) श्याम (श्रीकृष्ण) के मस्तक पर चढ़कर (उनके सिर पर रहने से, उनसे सम्मान पाकर) क्यों घमंड करती है। (इस उच्च पद को पाकर अभिमान मत कर क्योंकि तू जिसका बल पाके गुमान करती है वह स्वयं किसी और के अधीन है। अत थोड़ी ही देर में तू इस नीच दशा को प्राप्त होगी कि) पाँवों पर लोटती हुई देखी जायगी (क्योंकि) राधा का मान सुना जाता है (सुनते हैं कि राधिकाजी ने मान किया है। उनको मनाने के लिए श्याम उनके पैरों पड़ेंगे) [यह सखीवचन चन्द्रिका मिस श्याम प्रति भी हो सकता है। राधा के पास उनको ले चलने का यह अच्छा उपाय है]।

अलङ्कार —अन्योक्ति (मोरचन्द्रिका के बहाने किसी अन्य व्यक्ति को उपदेश किया जा रहा है)।

१—मोरचन्द्रिका दे० दो० सं० ४।

२—गुमान = अभिमान, घमंड, अहंकार।

*आर्यासप्तशती में लिखा है।

"शङ्करशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले।
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुमृजा" ॥

३—लखिबी=देखी जायगी, दे० पृ० १६।

गोधन[1] तूँ हरष्यौ हिये घरियक* लेहि पुजाइ।
समुझि परैगी[2] सीस पर परत पसुनु के पाइ ॥१६९॥

अर्थ —हे गोवर्द्धन तू हृदय में हर्षित हुआ (उच्च पद पाकर गर्व से आनन्दित हुआ) एक घड़ी (थोड़ी देर अपने को) पुजवा ले (परन्तु शीघ्रही) सिर पर पशुगणों के पैर पड़ते ही (अर्थात् उनके द्वारा कुचले और रौंदे जाने पर) जान पड़ेगी (यह सब तेरा घमण्ड भूल जायगा—तूने अपने को सचमुच गोवर्द्धन पर्वत ही समझ रक्खा है—यह अभिमान अभी मिट जायगा।) ऐसी ही बात काग प्रति भी बिहारीलाल ने कही है।

"दिन दस आदर पाइके करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग सराध पखु तौ लगि तौ सनमानु ॥"

१—गोधन, कार्तिकशुक्ल प्रतिपदा को किसान लोग गोबर का गोवर्द्धन बनाकर पूजते हैं—पूजने के बाद ही उसको कूटते हैं (गोधन कूटना प्रयुक्त भी है)—उसी गोवर्द्धन पर बैल खड़ा करके बैल को पूजते हैं—यह पूजा बहुधा द्वार के सामने रास्ते पर हुआ करती है अत पूजा समाप्त होते ही यह पर्वत कुचलकर भूमि के बराबर हो जाता है।

* पा० घरीक (घरी + इक या एक), निधरक।

२—जान पड़ना, समुझ पड़ना, मुहाविरा है—इसक प्रयोग से ठीक रास्ता न चलनेवालों को (शुद्ध आचरण न रखनेवालों को) फल भोगने का समय याद दिलाया जाता है।

अलङ्कार—अन्योक्ति (गोधन मिस किसी दुष्टप्रकृति वा अयोग्य पदाधिकारी वा सम्मानित व्यक्ति को उपदेश दिया है), अनुप्रास।

*नहिँ परागु[1] नहिँ मधुर मधु नहिँ विकासु इहिँ काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल[2] ॥१७०॥

अर्थ—हे भ्रमर (तू पुष्प की) कली ही में (इतना) बँध गया। (कि सब कुछ कर्तव्य छोड़ दिया तो) आगे (इसके खिलने पर तेरी) क्या दशा होगी। इस समय (अभी) तो (इसमें) न पुष्परज है न मीठा रस है न विकास है (अभी कली खिली भी नहीं है)।

अलङ्कार—अन्योक्ति (भ्रमर के बहाने किसी ऐसे व्यक्ति को उपदेश किया है जो किसी वस्तु पर उचित समय के पहले ही अत्यासक्त हो गया है)।

चितु दै† देखि चकोर त्यों तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै‡ अँगार की चुगै कि चन्दमयूख[3] ॥१७१॥

अर्थ—चित्त देकर चकोर की ओर देखो (कि वह अपना व्रत किस दृढ़ता से पालन करता है—वह) या तो आग की चिंगा

---

* दे० पृ० ४

१—पराग = पुष्परज।

२—हवाल = हाल दशा, (अरबी में हाल का बहुवचन शब्द अहवाल है—उसीका यह अपभ्रंश है)।

† पा० चितै।

‡ पा० चुन।

३—मयूख = किरण, ज्योति, दीप्ति।

रियाँ चुगता है या चन्द्र की किरणें चूसता है—भूख लगने पर (किसी) तीसरे (पदार्थ) को (कदापि) नहीं भजता (भोग करता वा ध्यान में लाता) है।

[इस दोहे को मानिनी नायिका प्रति सखी का वचन भी मान सकते हैं—पतिरूपी चकोर या तो प्रिया के चन्द्रमुख की शोभारूपी मयूख ही पान करता है या विरह रूपी अग्नि की चिनगारियाँ हीं]

अलङ्कार—अन्योक्ति (ऐसे व्यक्ति को उपदेश किया है जो किसी उच्च पदाधिकारी वा दृढ़व्रत मनुष्य से कोई निकृष्ट कर्म करवाना चाहता है—अथवा चकोर का उदाहरण देकर व्रत पर दृढ़ रहने की शिक्षा दी गई है), अनुप्रास।

> नहकि[1] बड़ाई आपनो कत राँचत[2] मति भूल।
> बिनु मधु मधुकर कै हियें गड़ै[3] न गुडहर[4] फूल ॥१७२॥

अर्थ—हे गुडहर मतिभूल (वा बुद्धि के भ्रम से) नहककर अपनी प्रशंसा वा प्रतिष्ठा से क्यों प्रसन्न हो रहा है? (तू ऐसा फूल है कि जिस पर कोई भौंरा अर्थात् गुणग्राहक नहीं जाता, क्योंकि) भौंरे के हृदय में बिना मधु का फूल नहीं गड़ता (प्रभाव डालता)।

१—नहकना—किसी उमङ्ग में आकर अथवा भूल में पड़ कर ठीक मार्ग से विचलित हो जाने (अर्थात् पूर्ण रीति से उचित अनुचित का ध्यान न करके कुछ करने या करने) को नहकना कहते हैं।

२—राँचत = (रंजन से) प्रसन्न होता है "साँच राँचै राम"।

३—हृदय में गड़ना = मोहित कर लेना, लुभा लेना (जैसे वह मूर्ति मेरे हृदय में गड़ गई है), चुभना (जैसे उसकी बात मेरे हृदय में गड़ गई।)

४—गुडहर, दे० दो० सं० १८२।

अलङ्कार —अन्योक्ति (गुडहर मिस किसी गुणहीन प्रतिष्ठित वा धनाढ्य मनुष्य के प्रति वचन)

पट्ु पाँखै भख काँकरै सपर[1] परेई[2] सङ्ग ।
सुखी परेवा पुहुमि[3] मे एकै तुही विहग[4] ॥१७३॥

अर्थ.—हे परेवा पक्षी संसार में एक तू ही सुखी है (क्योंकि तेरा) वस्त्र पङ्ख ही है (अर्थात् जो कुछ ईश्वर ने दे दिया है उससे अधिक की चाह तू नहीं रखता और जो है सो सदा ही तेरे साथ रहता है) भोजन कङ्कड है (जो सर्वत्र प्राप्य है) और सपर परेई (सदा तेरे) साथ है। (अर्थात् तू उतने ही से संतुष्ट है—पङ्ख-मात्र पट, कङ्कर-मात्र भक्ष्य तथा एक सहगामिनी स्त्री तेरे लिए काफ़ी है)।

अलकार —अन्योक्ति

*स्वारथु सुकृतु न श्रम† वृथा देखि विहग विचारि ।
बाज पराए पानि परि तू पन्छीनु न मारि ॥१७४॥

१—सपर = स + पर = पक्षयुत, जो (तेरे) साथ उडती है। पा० सदा।

२—परेई = परेवा पक्षी (कबूतर) की स्त्री (कबूतरी)।

३—पुहुमि = पृथ्वी, ससार। पा० भूमि, जगत।

४—विहङ्ग = पक्षी, चिड़िया आकाशगामी (विहायस् = आकाश, ग = गमन)

*जान पडता है कि बिहारी ने यह दोहा जयसिह ही पर कहा था—पराये (मुसल्मानो के) हाथ पडकर हिन्दुओं (पक्षियो) से उनका लडना बिहारी को पसन्द न था—जयसिंह को शिवाजी ने भी बहुत कुछ लिखा था एक शेर मे लिखा था—

"अजी तुर्क ताजी चे आयद् तुरा, हवायत् सुराबे नुमायद् तुरा"

†आर्यासप्तशती में लिखा है—

"आयास परहिंसा वैतसिकसारमेय ! तव सार ।
त्वामपसार्य विभाज्य कुरङ्ग मृपोधुनेवान्य" ॥

अर्थ —हे बाज ! तू दूसरे के हाथ में पडकर चिडियों को न मार (अर्थात् अपने मालिक के वश होकर वा फंदे में पडकर अन्य पक्षियों को मत सता)। हे विहङ्ग (स्वच्छन्दविहारी, आकाशपक्षी) विचार कर देख (तेरा) श्रम (पक्षियों के मारने में) व्यर्थ है न सुकृत (है न) स्वार्थ है (अर्थात् न तो इससे कोई तेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है न पुण्य ही मिलता है—न तो उस शिकार में से तुझे पेट भर खाने ही को मिलता है न कोई तेरा यशगान ही करता है)।

अलङ्कार —अन्योक्ति (बाज के मिस अनर्थकारी सेवक तथा उसके स्वामी के प्रति उपदेश), श्लेष (विहंग, पक्षिन), अनुप्रास।

नहि पावसु ऋतुराजु यह तजि तरवर चित भूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहै क्यों नव दल फलफूल॥१७५॥

अर्थ —हे श्रेष्ठ वृक्ष (तू अपने) चित्त की भूल छोड दे, यह वर्षा ऋतु नहीं है (प्रत्युत) ऋतुराज (वसंत) है (इस ऋतु में) बिना अपत (अ+पत=पत्रहीन, मानहीन, निर्लज्ज) भये नये कोपल (तथा) फलफूल क्यों पायेगा? (जैसे वसंत में जो ऋतुओं का राजा है नवीन पत्ते निकलने के लिए पहले पुराने पत्तों को झडना होता है यद्यपि सामान्य वर्षाकाल में बिना पतझड ही के फल-फूल निकल आते हैं उसी प्रकार राजाओं इत्यादि के यहाँ से प्रतिष्ठा तथा लाभ पाने के लिए अपना पहले का मान, आदर, गर्व इत्यादि सब खो बैठना पडता है यद्यपि साधारण लोगों से लाभ पाने में उसकी आवश्यकता नहीं होती)।

अलङ्कार —अन्योक्ति (वृक्ष पर अन्योक्ति करके राजाओं से लाभ उठाने की आकांक्षा करनेवाले के प्रति वचन)।

विषम[1] वृषादित[2] की तृषा जिये* मतीरनु[3] सोधि[4]।
अमित अपार अगाध जलु मारौ मूँड[5] पयोधि ॥१७६॥

अर्थः—प्रचड ग्रीष्म की प्यास में (मरुभूमिवाले तो) तरबूजा खोजकर जिये (फिर ऐसी दशा में) परिमाणरहित अपार अथाह जलवाले समुद्र को मूँड मारो (अर्थात् जब आवश्यकता पडने पर छोटी ही वस्तु काम आती है तो दूर की अप्राप्य बडी वस्तु को लात मारो। अथवा इतना बडा खारा समुद्र किस काम का जब प्यास बुझानेवाला जल छोटे तरबूजे ही में मिलता है। अत बडी अयोग्य वस्तु को छोड कर छोटी लाभदायक वस्तु को धारण करो) [कवि ने ऐसा ही वर्णन निम्नलिखित दोहे मे भी किया है—

"प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीरु हीं मारू[6] कहत पयोधि"[7]।

१—वि + षम = ना बराबर, असमान, कठिन, कठोर, प्रचड।

२—वृष + आदित्य, वृष राशि का सूर्य, जब सूर्य वृष राशि पर हो, जेठ, ग्रीष्म (आदित्य सूर्य का एक नाम है "आदित्य प्रथमो नाम द्वितीयम् तु दिवाकर "।

*. पा० जियो।

३—मतीर = तरबूजा, (राजपूतानी शब्द)

४—सोधना = खोजना, ढूँढ़ना।

५—मूँड मारना = सिर से मारना, फेंकना, परवाह न करना, जैसे लात मारना—पा० मूढ़ रखने पर पयोधि का विशेषण होगा, मूर्ख समुद्र जो काम नहीं आता, प्यास नहीं बुझाता।

६—मारू = मारवाडी, मरु देश का।

७—पयोधि, जलसागर वा क्षीरसागर, यहां पर क्षीरसागर अर्थ है। दे० दो० सं० १०५।

अलंकार—अन्योक्ति, लोकोक्ति, अनुप्रास।

जात जात वितु[1] होतु है ज्यौं जिय मैं संतोषु।
होत होत जौ होइ तौ होइ घरी मैं मोषु ॥१७७॥

अर्थ—धन (के) जाते जाते (अर्थात् नष्ट होते) जिस प्रकार मन में संतोष होता है (कि इतना हमारे भाग्य का नहीं था, ईश्वर को यही पसन्द था इत्यादि) (उसी प्रकार) यदि (धन के) होते होते (उपार्जन होते यह संतोष) हो (कि जितना हमारे भाग्य का होगा या ईश्वर को पसंद होगा उतना मिलेगा और हम सुमार्ग कुमार्ग तथा धर्म अधर्म का विचार करके धन इकट्ठा करें) तो घरी भर में (थोड़े ही समय में) मोक्ष हो जाय।

अलङ्कार—सभावना।

दीरघ[2] साँस न लेहि दुख सुख साईं हि न भूलि।
दई दई[3] क्यौं करतु है दई दई सु कबूलि ॥१७८॥

अर्थ—(तू) दुख में (विपत्ति पड़ने पर) लम्बी साँस न ले (और) सुख में मालिक (ईश्वर) को न भूल (दुख पड़ने पर) हा दैव! हा दैव! क्यों करता है? (जो) ईश्वर (दई) ने दिया (दई) उसको (कबूल) अंगीकृत करो (सतुष्ट रहो और धैर्य धारण

१—वित्त = धन, दे दो० स० १२ "वितु वितु बचत न"

२—दीरघ = लम्बा, बड़ा, भारी, लम्बी सास दुख पड़ने पर बहुत निकलती है।

३—दई, हा दैव, हा राम इत्यादि—दैव (= देवता, ईश्वर) शब्द से अपभ्रंश अनेक शब्द इस प्रकार से प्रयुक्त है जैसे दैव, दैया, दइ, दइया, दय्या, दइव, दउव इत्यादि।

करो) [कुछ इसी तरह का निम्न लिखित दोहा भी है, परंतु इसका अर्थ शृंगाररस में भी लग सकता है—

"दियो सो सीस चढाय लै आछी भांति अएरि[१]।
जापे सुख चाहत लियो ताके दुखहिं न फेरि ॥"]

अलङ्कार—यमक

पाइल पाइ लगी रहै लगौ अमोलिक[२] लाल।
भौडर हूँ की भासिहै[३] बेंदी भामिनि[४] भाल ॥१७९॥

अर्थ—पाइल (पायजेब) पैर (ही में) लगी रहती है (चाहे उसमें) बहुमूल्य माणिक (ही क्यों न) लगा हो, (परंतु) भोंडर (अबरख) की भी बेंदी (टिकुली) सुंदरी के ललाट पर शोभा देगी (अर्थात नीच व्यक्ति धन इत्यादि होने से भी नीच ही पद पायगा किंतु गुणवान् श्रेष्ठ व्यक्ति सदा उच्च पद को प्राप्त होता है)

अलङ्कार—अन्योक्ति, अनुप्रास।

मूड चढाएऊ रहै पर्‌यौ पीठि कच भारु।
रहै गरै परि राखिबौ*तऊ हियैं पर हारु ॥१८०॥

१—अएरि = अंगीकृत कर।

२—अ + मोलिक = अमूल्य, बहुमूल्य।

३—भासिहै = भासित होगी, शोभा देगी (भास = प्रकाश, चमक, दीप्ति, शोभा)।

४—भामिनि = स्त्री, सुन्दर स्त्री (भाम = क्रोध अत भामा, भामिनी = क्रोधवती स्त्री, इस क्रोध का अर्थ मान है और मान करनेवाली सुन्दरी हुई। इसलिए भामा वा भामिनी सुन्दर स्त्री को कहते हैं, दे० दो० सं० १६०)।

* पा० राखिये।

अर्थ—सिर पर चढ़ाने पर भी (अति आदर करने पर भी) कचभार (केशसमूह) पीठ ही पर पड़ा रहता है (उसको पीछे ही स्थान मिलता है, किंतु) गले पड़ने पर (१ सिर से नीचे रहने पर, २ गले पड़ कर अर्थात् विना बुलाये ही पड़ा रहता है तिस पर) भी हार हृदय पर (आगे की ओर, उच्च पद पर) रखने योग्य है [मूड़ चढ़ाना, पीठ पर पड़ना, गले पड़ना, हृदय पर, कच (कच्चा, अपरिपक्व, अश्रेष्ठ व्यक्ति), हार (१ माल २ सब गुणों में दक्ष, श्रेष्ठव्यक्ति) के भिन्न अर्थों से कवि ने कैसा काम लिया है।]

अलङ्कार—अन्योक्ति (गाल और हार के रहाने योग्य और अयोग्य व्यक्ति का स्थान बतलाया गया है), श्लेष।

बड़े न हूजे गुननु बिनु बिरद[1] बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु गहनौ गढ्यो न जाइ॥१८१॥

अर्थ—बिना गुणों (अपनी योग्यता) के प्रशंसात्मक नाम की बड़ाई पाकर (केवल बड़े कहलाने से) बड़ा (योग्य, श्रेष्ठ) नहीं हुआ जाता (प्रत्यक्ष है कि लोग) धतूरे को 'कनक' (१ धतूरा, २ सोना) कहते हैं (परंतु कनक नाम ही पा जाने से उससे वास्तविक कनक अर्थात् सुवर्ण की नाईं) गहना नहीं गढ़ा जाता। [इसी प्रकार कहा है—

"गुनी गुनी सब कोउ कहै निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूं तरु अर्क तें अर्क[2] समान उदोत"॥]

अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास, अनुप्रास।

१—बिरद = विरद = प्रशंसासूचक नाम, जैसे विरदावली।

२—अर्क = १ अकौआ, मदार, २ सूर्य।

नीच हियँ हुलसे[1] रहैं गहे गेंद के पोत[2] ।
ज्यौं ज्यौं माथें मारियत त्यौं त्यौं ऊँचे होत ॥१८२॥

अर्थ —नीच (प्रकृति के मनुष्य) गेंद का स्वभाव धारण करके हृदय में हुलसे रहते हैं (हुलास रखते हैं, प्रसन्न होते हैं, उछलते हैं) ज्यों ज्यों सिर पर मारे जाते हैं (मार खाते हैं, निरादृत होते हैं) त्यों त्यों ऊँचे होते हैं (उछल कर ऊँचे चढ जाते हैं। अपने को बड़ा समझते हैं)।

अलङ्कार —दृष्टांत।

कोरि[3] जतन कोऊ करो परै न प्रकृतिहि बीचु[4] ।
नल बल जलु ऊँचै चढ़ै अंत नीच को नीचु ॥१८३॥

अर्थ —कोई करोड़ यत्न किया करो (परंतु) प्रकृति (स्वभाव) में अंतर नहीं पड़ता (जैसे) नल के सहारे (बल पर) पानी ऊँचा चढ़ता है (फव्वारा द्वारा ऊपर को निकलता है, परन्तु फिर) अंत में नीच का नीच (ही हो जाता है—फिर नीचे ही को गिरने लगता है)।

अलङ्कार —अर्थान्तरन्यास (दृष्टांत द्वारा नियम का समर्थन)।

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध ।
राखौ मेलि कपूर मैं हींग न होइ सुगंध ॥१८४॥

१—हुलास, उल्लास शब्द से आया है।
२—पोत = स्वभाव, ढङ्ग
३—कोरि = कोटि, करो
४—बीचु = अन्तर, भेद ... इसमें कुछ
बात में कभी बीच नहीं पड़

अर्थ —(सत्) संगति (से भी) कुमति के धंधे में पड़े (नीच कामों में लगे हुए लोग) सुमति नहीं पाते (उनकी बुद्धि ठीक नहीं होती जैसे) हींग (को चाहे) कपूर (ही) में (जो सामान्यत अपने निकट के पदार्थों को सुगंधित कर देता है) मिला कर रखो (लेकिन वह) सुगंध नहीं होगी। [सूरदास ने लिखा है—

"कहा होत पय पान कराए विष नहिं तजत भुजंग
कागहि कहा कपूर चुगाए, स्वान न्हवाए गंग
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग
सूरदास खल कारी कामरि चढत न दूजो रंग"]

अलङ्कार —अर्थान्तरन्यास (दृष्टांत द्वारा समर्थन), अतद्गुण (साथ रहने पर भी हींग में कपूर का गुण नहीं आता)।

बुरौ बुराई जौ* तजै तौ चितु खरौ डरातु।†
ज्यौं निकलंकु मयंकु[1] लखि गनैं[2] लोग उतपातु[3]

* पा० जितु
† पा० सकात

१—कलंकरहित चन्द्रमा (मयंक, मृगांक = चन्द्र), ज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा का काला दाग दिखाई न देने पर हिम वर्षा अथवा कोई बड़ी दुर्घटना होनी चाहिए।

२—गनना वा गिनना = गणना करना—यह शब्द गणितशास्त्र या ज्योतिष से लिया गया है—ज्योतिष में ग्रहों इत्यादि की चाल गिनकर भविष्य की घटनाएँ बताई जाती हैं—अत गनना का अर्थ अनुमान करना, भविष्य बतलाने के लिए गणित क्रिया करना इत्यादि होता है। कहते भी हैं—

"पंडितजी मेरा प्रश्न गिन दीजिए"

३—उतपात = (उत्+पात) उपद्रव।

अर्थ.—यदि तू चाहता है कि (तेरा) मित्र मैला न हो (और मित्रता की) चमक कम न हो (अर्थात् उज्ज्वल पवित्र प्रेम बना रहे तो) स्नेह से चिकनाये हुए चित्त में राजस की धूल न छुआ (अर्थात् जब मित्र के चित्त में स्नेह का तेल डाल दिया तो उस पर राजस रज के डालने से वह अति मैला हो जायगा, धूल बैठ जायगी। राजस उज्ज्वलता और चिकनापन दोनों को बिगाड़ देगा)

अलङ्कार—रूपक।

अरे परेखो[1] को करै, तु हीं विलोकि विचारि।
किहि नर किहि सर राखियै खरै बढ़ै परिपारि[2]॥१९३॥

अर्थ—अरे (मित्र अथवा मन) परेखा कौन करे (कौन देखता या जाँच करता फिरे) तू ही विचार कर देख (कि) खरे (अधिक) बढ़ने पर किस मनुष्य (और) किस ताल से मर्यादा रखी जाती है (अर्थात् ताल में बाढ़ आने से उसकी मर्यादा अर्थात् पाढ़ टूट जाती है और अधिक संपत्तिवान् होने पर मनुष्य की मर्यादा अर्थात् नम्रता और सहनशीलता इत्यादि टूट जाती है)।

अलङ्कार.—काकुवक्रोक्ति।

अति अगाधु[3] अति औथरौ[4] नदी कूपु सरु बाइ[5]।
सो ताकौ सागरु जहाँ जाकी प्यास बुझाइ॥१९४॥

१—परेखा = देखना, परीक्षा।
२—परिपारि=मर्यादा, हद, घेरा, किनारा।
३—अगाध = अथाह (अ + ग + अघ)।
४—औथर = (उथल, उत् + स्थल) छिछला।
५—बाइ = वापी, बावली, तलैया।

अर्थ —नदी, कुआँ, ताल, तलैया बहुत गहरे (अथवा) बहुत छिछले (हों, या संसार में हैं किन्तु) जहाँ जिसकी प्यास बुझे (जहाँ जिसकी अभिलाषा पूरी हो) वही उसके लिए समुद्र है (अर्थात् जिसका जिससे काम बने उसके लिए वही सब कुछ है)

अलङ्कार —अन्योक्ति, अनुप्रास।

सोहतु सगु[1] समान सौं यहै कहै सबु लोगु।
पान पीक ओठनु बनै काजर नैननु जोगु ॥१९५॥

अर्थ —(किसी मनुष्य या वस्तु का) साथ (उसके) समान (मनुष्य या वस्तु के मिलने) से सुशोभित होता है। यही सब लोग कहते हैं (जैसे) पान की (लाल) पीक का (लाल रङ्गवाले) ओठों से (और काले) काजल का (काली) आँखों से जोग बनता है (संयोग ठीक होता है—इन्हीं का संग शोभा देता है)

अलङ्कार —सम, अनुप्रास।

को कहि सकै बडेनु सौं लखैं बड़ीयौ भूल
दीने दई गुलाब की* इन डारनु वे फूल ॥१९६॥

१—पा० अग।

२—पा० को।

* पा० को।

†"इन डारनु वे फूल" (कौन से फूल ?) से अनुमान होता है कि ग्रीष्म ऋतु की (इन) सूखी कँटीली डालियों को देख कर वसंत में खिले हुए (वे) फूल स्मरण हुए हैं—यदि 'इन डारन ये फूल' पाठ रक्खा जाय तो अर्थ स्पष्ट है

अर्थ —(उनकी) बड़ी भूल देखकर भी बड़ों (उच्च पद प्राप्त जनों) से कौन कह सकता है (कि यह आपकी भूल है—देखो ब्रह्मा से कोई नहीं कहता यद्यपि उस) ब्रह्मा (दई) ने (वास्तव में कितनी बड़ी भूल की है कि) गुलाब की इन (कँटीली) डालियों में कैसे (सुंदर सुगन्धित) फूल दिये।

अलङ्कार —अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास।

समै समै* सुन्दर सबै रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ ॥१९७॥

अर्थः—(यदि सत्य पूछिए तो) कोई रूप कुरूप नहीं है समय समय पर सब ही (वस्तु) सुन्दर हैं (अपने अपने अवसर पर तथा मनुष्य की रुचि के अनुसार प्रत्येक वस्तु अच्छी और सुन्दर हो जाती है अर्थात् कोई पदार्थ स्वयं सुन्दर वा असुन्दर नहीं है—एक ही वस्तु कभी किसी के लिए अच्छी कभी किसी के लिए बुरी होती है) (वास्तव में मनुष्य के) मन की रुचि (चाह, इच्छा, प्रेम, प्रीति) जिस ओर जितनी होती है उस ओर उतनी रुचि (शोभा, सुन्दरता) हो जाती है (मालूम होने लगती है) [सूरदास लिखते हैं—

"ऊधो मनमाने की बात,

सूरदास जाको मन जासों सोई ताहि सुहात।"]

अलङ्कार —परिसंख्या, अनुप्रास, यमक।

---

*समय समय की बात और प्रिय तथा इच्छित वस्तु का कैसा सुन्दर उदाहरण नीचे के दोहे में है—

"मरतु प्यास पिंजरा परयो सुआ समै कैं फेर।
आदरु दै दै बोलियतु बाइसु बलि की बेर॥" ऐसा समय का फेर है।

मैं समुझ्यो निरधार¹ यह जगु काँचो काँच² सो।
एकै* रूपु अपार प्रतिबिम्बित³ लखियतु जहाँ ॥१९८

अर्थ—मैंने निश्चित रूप से समझ लिया है (कि) यह कच्चे (अर्थात् कच्चा, अस्थायी, असत्य) संसार काँच (शीशा, दर्पण) सदृश है जिसमें एक ही (ईश्वर का) रूप असंख्य (रूप से) प्रतिबिम्बित दिखलाई देता है (अर्थात् संसार के सभी पदार्थ उसी एक परब्रह्म की परछाँई समान है—वह सर्वव्यापी है)

अर्थ—उपमा (जग की काँच से), प्रमाण।

को छूट्यौ इहि जाल† परि कत कुरङ्ग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यो चहत त्यौं त्यौं उरझत⁴ जात॥१९९॥

१—निरधार—निश्चय।

२—काच = शीशा।

*कहा भी है "सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" तथा "जले विष्णु स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वतमस्तके। ज्वालामाला कुले विष्णु सर्व विष्णुमयं जगत्"। गोसाइँ जी ने भी कहा है,—

"सिया राम मय सब जग जानी"

मीरदर्द लिखते हैं—

"जग में आकर इधर उधर देखा
तूही आया नजर जिधर देखा"

३—प्रति + बिम्ब = परछाँहीं, (बिम्ब = चमक, उसका प्रतिरूप जो दर्पण इत्यादि में प्रकट होता है)।

†यह जाल कौन सा है ? (१) कोई मनुष्य किसी विपत्ति में पड़ा है उसको धीरज देने के लिए यह कहा है, जिससे वह अकुलाय नहीं (२) यह जाल कदाचित् वही "तियछवि" है जो दो० सं० २०१ में वर्णित है (३) कुरङ्ग का अर्थ (कु + रङ्ग) बुरे रङ्गवाला, बुरी रुचि का मनुष्य भी हो सकता है। इससे मनुष्य की रुचि ही यह जाल है—तृष्णा महाजाल सुलझाने से नहीं सुलझ सकता। यह वैराग्य का दोहा जान पड़ता है।

४—उरझना = उलझना = फँसना, इसका उलटा है सुरझना।

व्यर्थ—हे हरिण (तू) क्यों छटपटा रहा है (तेरा व्याकुल होना व्यर्थ है, क्योंकि) इस जाल में पड़कर कौन छूटा ? (अर्थात् सभी फँसते गये—यहाँ तो यह दशा है कि) ज्यों ज्यों सुलझ कर फंदे को सुलझा कर) भागना चाहता है त्यों त्यों (और) फँसता जाता है। [कबीरदासजी ने कहा है—

"यह ससार काँटे की याडी उलझ पुलझ मर जाना है"]

अलङ्कार—अन्योक्ति, श्लेष (कुरंग)।

कनक कनक* तें सौगुनी मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ इहिं पाएँ हीं बौराइ ॥२००॥

अर्थ—कनक (सोना, धन) कनक (धतूर एक विषेला फल) से मादकता (नशा लाने) में सौगुना अधिक हो जाता है (रुपये का नशा बहुत ही प्रबल होता है—देखो) उसको (धतूर को तो) खाने से (आदमी) बौराता है (नशे से पागल हो जाता है) (परन्तु) इसको (सुवर्ण को) पाने ही से बौरा जाता है (मदांध हो जाता है, उचित अनुचित का विचार छोड़ देता है)।

अलङ्कार—काव्यलिंग (मादकता सुवर्ण में अधिक है इसका समर्थन उत्तरार्ध से है), यमक।

या भव पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय† छवि छायाग्राहिनी¹ ग्रहै बीचहीं आइ ॥२०१॥

* संस्कृत का एक श्लोक है—

"सुवर्णे बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथ मद।
नामसाम्यादहो यस्य धुस्तूरोऽपि मदप्रद" ॥

†कबीरदास लिखते हैं "इक कञ्चन अरु कामिनी दुर्गम घाटी दोय।"

१ छाया पकड़नेवाली = सिंहिका, यह एक राक्षसी थी जो समुद्र में रहती थी और ऊपर उड़ते हुए पक्षियों की छाया पकड़ लेती थी। फिर वह

अर्थ—इस भवसागर को लाँघ कर (इस पार से उस पार कूद कर) कौन पार जा सकता है? (अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि) स्त्री की छविरूपी सिंहिका आकर बीच ही में पकड लेती है (अर्थात् काम को जीत लेना अति कठिन है और उसके बिना मनुष्य संसार पार नहीं हो सकता) [किन्तु कवि ने एक उपाय छोड रक्खा है—यदि कोई महावीरजी के सदृश ब्रह्मचारी और पराक्रमी हो और ईश्वर का नाम लेकर तत्पर हो तो वह पार हो सकता है]

अलङ्कार—रूपक।

जम-करि मुँह तरहरि[1] पर्यौ इहि धरहरि चित लाउ।
विषय[2] तृपा परिहरि अजौं नरहरि[3] के गुन गाउ ॥२०२॥

पक्षी उड नहीं सकते थे। समुद्र में गिर जाने पर वह उनको खा जाती थी। जब हनुमानजी सीताजी को ढूँढने लङ्का जाने लगे तो इस राक्षसी ने (इसे राहु की माता भी कहते हैं) उनको भी उसी प्रकार आकर्षित किया। परन्तु ये उसे मारकर समुद्र उसपार चले गये—तुलसीदास ने सुन्दरकाड में इसका वर्णन किया है। "निशिचर एक सिन्धु महँ रहई ... तारिधि पार गयउ हनुमाना"

१—तरहरि = नीचे।

२—विषय = संसार के पदार्थ जिनमें लग जाने से मनुष्य ईश्वर को भूलता है—नाना प्रकार के भोग विलास इत्यादि। (वि+सि = बाँधना) इन्द्रियों को आकर्षित करनेवाला।

३—नरहरि = (नर+सिंह) नृसिंह अथवा बिहारीलाल के दीक्षागुरु नरहरिदास। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने गुरु नरहरिदास की वन्दना द्व्यर्थक शब्दों में की है—"बन्दौं गुरु पदकञ्ज, कृपासिन्धु नररूपहरि"

अर्थ—यमरूपी करि (हाथी) के मुख के नीचे (तू) पड़ा है इस निश्चय (अटल सिद्धांत वा विश्वास) पर चित्त लगा (ऐसा निश्चय कर, ठीक समझ—अथवा ऐसा जानि अर्थात् समझ कर हरि अर्थात् ईश्वर में मन लगा—और) अब भी विषय की प्यास (इच्छा) छोड़कर नृसिंह भगवान् (वा गुरु नरहरिदास) के गुण गा (नरसिंह ही तुझे इस हाथी के मुख से निकालेंगे)

अलङ्कार—रूपक, श्लेष

जगतु जनायौ जिहि सकलु सो हरि जान्यौं नाँहि।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै आँखि न देखी जाँहि ॥२०३॥

अर्थ—जिससे सारा संसार जाना गया (जिस चिन्मय ब्रह्म के द्वारा इस समस्त संसार का ज्ञान हुआ अर्थात् जिसने यह सब जगत् जनाया) उस हरि (परमात्मा) को (तूने) नहीं जाना (यह वैसा ही है) जैसे आँखों से सब (पदार्थ देखा जाता है) (किन्तु स्वयं) आँखे नहीं देखी जातीं।

अलङ्कार—उदाहरण, अनुप्रास।

भजन कह्यौ तातैं भज्यौं भज्यौ न एकौ वार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ सो तैं भज्यौ गँवार[1]॥२०४॥

अर्थ—रे गँवार (मूर्ख, बेसमझ) (जिसका) भजन करने को कहा (जिस परमात्मा को भजने की आज्ञा धर्मशास्त्रों ने की थी) उससे (तो तू) भाग गया (उसको) एक बार भी न भजा (भजन किया) (उलटा इसके) जिससे दूर भागने के लिए कहा (विषय भोग माया इत्यादि) उसको तूने भजा (स्मरण किया, उसमें लीन रहा, उसका भोग किया)।

अलङ्कार—यमक।

१—गँवार = मूढ, मूर्ख, बे समझ (गँवई का, जो नागर न हो)।

ब्रजवासिनु को उचित धनु जो धन रुचित न कोइ* ।
सु चित न आयाँ सुचितई कहाँ कहाँ तैं होइ ॥२०५॥

अर्थ —ब्रजवासियों का जो उचित धन है (जिसके उपार्जन वा सञ्चित करने के लिए उनको उद्योग करना चाहिए अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण वा उनकी भक्ति), जो रुचित नहीं (है) कोई ही कोई धन (धन्य, धन्य पुरुष, धन्य भागी अर्थात् महा अभागी) को, सो (यह धन तेरे) चित न आया (ऐसे तो तुम धन्य भागी अर्थात् अभागे हो तो भला) कहाँ सुचितई (चित्त की शांति) कहाँ से हो ।

अलङ्कार.—पर्यायोक्ति, यमक, व्याजनिंदा (धन) ।

तौ लगु या मन सदन मैं हरि आवैं किहि बाट ।
निकट[1] जटे जौ लगु निपट खुटैं[2] न कपट कपाट ॥२०६॥

अर्थ —जब तक निपट (अत्यंत) विकट (कठिन अर्थात् दृढ़) जड़े हुए कपट के किवाड़ न खुलें तब तक इस मनरूपी घर में (कहो) परमेश्वर किस रास्ते से आवें ।

अलङ्कार —रूपक, पर्यायोक्ति, अनुप्रास ।

---

*'धन रुचित न कोइ' इस वाक्यांश के अनेक पाठान्तर हैं—लाला भगवानदीन ने 'घनरुचि तन कोय' (=बादल जैसा शरीर है जिसका) लिखा है, किन्तु रत्नाकरजी का पाठ अधिक शुद्ध प्रतीत होता है ।

१—(नि + कट = आकृति, गति इ०)

२—खुटं, खुटना = खुलना (खुड् धातु से) । पा० छुटैं, खुलें

दूरि भजत प्रभु पीठि दै[1] गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि* चग रग भूपाल† ॥२०७॥

अर्थ—भूपाल (ससार का पालन करनेवाला, परमेश्वर) पतंग समान (है)—गुन विस्तार करने के समय (जैसे जैसे हाथ में से डोरी निकालते जाइए एवं जैसे जैसे अपना गुण वर्णन करते जाइए वा सगुण रूप परमेश्वर का गुणगान करते जाइए तैसे तैसे) प्रभु पीठ देकर दूर भागते जाते हैं (पर) निर्गुन (बिना डोरी की पतंग जो हाथ ही में रहेगी एवं जो लोग अपने गुणों को समेट कर रख लिये हैं और बढाते अर्थात् कहते नहीं फिरते उनके, अथवा ब्रह्म निर्गुण रूप से) निकटवर्ती होकर प्रकट होते हैं।

अलङ्कार—उपमा (भूपाल की चग से), श्लेष (गुन = १ गुण २ डोरी), अनुप्रास।

जपमाला‡ छापै§ तिलक सरै[2] न एकौ कामु।
मन काँचे नाचै वृथा साँचै राँचै रामु[3] ॥२०८॥

१—पीठ देकर—उडती हुई पतग सदा पीठ उडानेवाले की ओर करके उडती है—भागनेवाला मनुष्य भी पीठ पीछे ही करके भागता है।

* पा० ही, है।

† पा० गोपाल।

‡ कबीरदास कहते हैं—
"माला फेरत युग गया पाय
कर का मनका छाड के मन

§ पा० छापा।

२—काम सरना = काम चलना,
दे० दो० सं० १८७।

३—रामु = जिसमें योगी लोग
...ता है, विष्णु के अवतार, कौशलेश ...

अर्थ —जपमाला (जाप करने की माला, हाथ की माला) छाप (चंदन इत्यादि की मुद्रा) तिलक से एक भी काम नहीं चलता (कुछ लाभ नहीं होता) कच्चे मनवाला (जिसके हृदय में दृढ़ भक्ति नहीं है) व्यर्थ (बिना लाभ का) नाचता है (सब पूजा पाठ का ढोंग फैलाता है)। राम (परमात्मा तो) सच्चे ही से (न कि ऊपरी आडम्बर से) रंजित (प्रसन्न) होता है (अर्थात् ईश्वर केवल सच्ची निष्कपट दृढ़ भक्ति चाहता है)

अलङ्कार —परिसंख्या, अनुप्रास।

यह बरिया[1] नहि और* की तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाइ जिहि कीने पार पयोधि ॥२०९॥

अर्थ —यह समय (किसी) और का नहीं (है अर्थात् यह भवसागर तरने के लिए अथवा इस कलियुग में अन्य उपाय निष्फल हैं) तू वह करिया (१ कर, कर्ण, पतवारवाला अर्थात् कर्णधार, पतवारी २ करिया-श्यामवर्ण रामचन्द्र) सोध (उसकी सुधि कर, याद कर, खोजकर, जिसने पत्थर की नौका पर चढ़ा कर (अनेक भालु बंदरों को) समुद्रपार कर दिया (अर्थात् जो रामचन्द्र समय पड़ने पर जल पर भी पत्थर तैरा कर बंदरों इत्यादि तक को पार उतारे उन्हीं को स्मरण कर)

अलङ्कार —पर्यायोक्ति, श्लेष।

१—बरिया = (वार से) बारी, बेला, अवसर, समय। पा० बिरिया = बेरा, बेला, समय।

* तुलसीदास भी कहते हैं—

नहि कलि कर्म न भक्ति विवेकू।
राम नाम अवलम्बन एकू ॥

लट्टुवा लौं प्रभु कर गहैं निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी करतैं छुटैं निगुनीयै ह्वै जाइ॥२१०॥

अर्थ.—लट्टू के समान प्रभु (परमात्मा, स्वामी) के हाथ में पकड़ने पर निगुनी (१ गुणहीन मनुष्य २ विना डोरी का लट्टू) गुन (१ गुण २ डोरी) से लिपट जाता है (मनुष्य गुणवान् हो जाता है, लट्टू में डोरी लग जाती है, परंतु फिर) वही गुनी (गुन-वाला १ ईश्वर २ डोरीवाला) के हाथ से छुटने पर (१ ईश्वर से अलग होकर संसार के मायाजाल में भ्रमण करने पर, २ हाथ से फेंक देने पर) निगुनी ही हो जाता है (अर्थात् जिस पर ईश्वर की कृपा* है वह गुणहीन भी गुणवान् हो जायगा)

अलङ्कार—उपमा (निगुनी की लट्टू से), श्लेष।

जाकैं एकाएक हूँ जग ब्यौसाइ न कोइ।
सो निदाघ[1] फूलै फरै आकु[†] डहडहौ[2] होइ॥२११॥

अर्थ—(निराश्रय व्यक्तियों पर ईश्वर की विशेष कृपा का उदाहरण देखो कि) जिस (मदार) के लिए अकेले भी कोई (मनुष्य, अर्थात् एक भी) व्यवसायी (उद्योग करनेवाला, सींचने वाला, रक्षा करनेवाला) नहीं (है) वह (असहाय) मदार ग्रीष्म में

---

*तुलसीदास लिखते हैं—मूक होहि वाचाल पंगु चढै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सु दयाल द्रवो सकल कलिमल दहन।

१—निदाघ = ग्रीष्म, दे० दो० सं० १२७।

†कहावत प्रसिद्ध है "अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम,
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।"

२—डहडहौ = हरा भरा।

बिना किसी के पानी दिये ही केवल ईश्वर की कृपा से) हरा भरा होकर फूलता फलता है।

अलङ्कार—अन्योक्ति।

अपनें अपनें मत लगे वादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबकौ सेइबौ एकै*नन्दकिसोर॥२१२॥

अर्थ—अपने अपने मत (जैसे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा शैव शाक्त इत्यादि) में लगे (के लिए अर्थात् समर्थन करने के लिए) व्यर्थ शोर मचाते हैं (भिन्न भिन्न मतवाले व्यर्थ लड़ाई झगड़ा करते हैं, क्योंकि वास्तव में) सबको जिस जिस तरह (हो) एक ही नन्दकिशोर (नन्द के पुत्र, श्रीकृष्ण, ईश्वर) की सेवा करनी है। (अर्थात् चाहे जिसकी पूजा करो और जिस तरह से करो सब पूजा ईश्वर ही की होती है)।

अलङ्कार—प्रमाण।

कोऊ कोरिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो संपति† जदुपति सदा बिपति बिदारनहार॥२१३॥

अर्थ—(चाहे) कोई (धन का लोभी) करोड़ (की संपत्ति) संग्रह करे (चाहे) कोई लाख (या) हजार (या हजार लाख अर्थात् दस करोड़ की), मेरी संपति (तो) सदा विपत्ति नाश करनेवाले यदुपति (यदुवंशियों के स्वामी श्रीकृष्ण) हैं (विपत्ति को दूर करने वाली वास्तविक संपत्ति यही है। मुझे धतूरे से भी दसगुना माद-

---

*"सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति"।

†तुलसीदास लिखते हैं—"औरन के धन धाम मम गुञ्जी घर राम नाम खजाना।

कता उत्पन्न करनेवाला कनक नहीं चाहिए दे० दो० सं०, २००। में "अवगुन भरी" संपति नहीं चाहता।

"तो अनेक अवगुन भरी चाहे याहि बलाय,
जो पति सपनि हू विना जदुपति राखे जाय।")
["मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै

सूरदास प्रभु काम धेनु तजि छेरी कोन दुहावै" सूरदास]

अलङ्कारः—हेतु, अनुप्रास।

थोरें ही गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह[1] मनो भए आज कालिह के दानि ॥२१४॥

अर्थ —हे कान्ह (कन्हैया, श्रीकृष्ण, तुम तो) थोड़े ही गुण से रीझते थे (भक्त पर प्रसन्न हो जाते थे) वह (अपनी) बानि (आदत, स्वभाव अब तुम) भूल गये (छोड दिये) मानों तुम भी (अब) आज कल के दानी (सदृश कृपण) हो गये [समय के परिवर्तन तथा ससार के प्रभाव से अपना स्वभाव छोड देने का बडा ही उत्कृष्ट वर्णन बिहारीलाल ने निम्नलिखित दोहे में किया है —

"समै पलटि पलटै प्रकृति को न तजै निज चाल,
भो अकरुण करुणाकरी यहि कपूत कलिकाल।'

विचार कीजिए स्वयं सृष्टिकर्ता पर उसी की सृष्टि के एक अत्यन्त लघु खण्ड का प्रभाव पड रहा है—ऐसा प्रचण्ड कलि युग है—किन्तु खेद तो यह है कि ईश्वर भले ही बदल कर बुरा हो जाय परन्तु दुष्ट जन कभी भले नहीं हो सकते। दे० दो० सं० १८४]

अलङ्कार —वस्तूत्प्रेक्षा (तुम आज कालि के दानि प्रतीत होने लगे)

१—कान्ह = कृष्ण (प्राकृत में कन्ह, का्न्ह)

कब को टेरतु दीन रट[1] होत न स्याम सहाद।
तुम हूँ लागी जगत गुरु[2] जग नाइक जगवाइ ॥२०५ ॥

अर्थ —हे श्याम (श्रीकृष्ण) कब का (कब से, बहुत देर से) दीनरट से (दीनता से भरी हुई पुकार से मैं तुम्हें) टेरता हूँ (पुकार रहा हू) (तिस पर भी तुम) सहायक नहीं होते (मेरी प्रार्थना नहीं सुनते)। हे जगत् के गुरु, ससार के स्वामी (मुझे तो ऐसा जान पड़ने लगा कि) तुमको भी संसार की हवा लग गई (आज कल के समय का प्रभाव—कृपणता, दीनों की पुकार न सुनना इत्यादि—तुम पर भी पड गया।)

अलङ्कार —लोकोक्ति, गम्योत्प्रेक्षा (तुम भी मानो जग वायु लगे हुए राजा हो गये—मानो लुप्त), अनुप्रास।

बधु भए का दीन के को तार्‌यो रघुराइ।
तूठे[3] तूठे फिरत हौ झूठे विरद[4] कहाइ* ॥२१६॥

१—पा० रत, छँ।

२—जगतगुर, इस शब्द के प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि हे कृष्ण तुम तो ससार के गुरु हो तुमको इसका अधकार दूर करके इस पर अपना प्रकाशमान प्रभाव डालना चाहिए। तो तुम उलटे ही इसी के प्रभाव में पड़ गये। इसी प्रकार जगनायक का प्रयोग है अर्थात् तुम संसार के मालिक हो। इस संसाररूपी प्रजा को ठीक मार्ग पर ले चलो न कि इसी के पीछे तुम भी चलने लगो।

३—तुठ (तुष्ट) = प्रसन्न।

४—विरद = बड़ाई, प्रशसात्मक वचन, दे० दो० सं० १८१।

* पा० जुलाइ।

भोगना होगा सो मैं भोग ही लूँगा तुम मेरे तारने के लिए परिश्रम करके कष्ट मत उठाओ क्योंकि एक तो मुझ जैसे पापी के तारने में तुम्हें अति कष्ट होगा, इसलिए मुझे तारने का) हठ न करो, (दूसरे कदाचित् तुम्हारे परिश्रम करने पर भी मैं न तर सकूँ, क्योंकि) हे गोपाल मेरा तारना अति कठिन है।

["मो को मुक्त विचारत हौ प्रभु, पूँछत पहर घरी,
स्रम ते तुम्हें पसीना ऐहै कत यह जतनि करी" सूरदास]

अलंकार —सम (कारण चाल के अनुसार कार्य फल भोग)

करौ कुवत[1] जगु कुटिलता तजौं न दीन दयाल।

दुखी होहुगे सरल हिय* बसत त्रिभंगी[2]लाल ॥२१९॥

अर्थ —हे दीनदयाल मैं अपनी कुटिलता (टेढ़ापन, बुराई) न छोड़ूँगा (चाहे) संसार (मेरी) निन्दा किया करे (अर्थात् संसार के कुटिल कहने से मैं नहीं भागता) (मुझे तो यह शङ्का है कि यदि कुटिलता छोड़कर सीधा हो जाऊँ तो) हे त्रिभङ्गीलाल (तीन जगह से टेढ़े श्रीकृष्ण) (मेरे) सरल हृदय में बसते तुम दुखी होगे (अर्थात् सीधे हृदय में बसने पर तुम्हें कष्ट होगा क्योंकि सीधी वस्तु में टेढ़ी वस्तु ठीक नहीं समा सकती) [दीन दयाल कहने का प्रयोजन यह है कि मैं पापी होने से अधिक दीन होता जाऊँगा—और तुम दीनों पर दया रखते हो मुझ पर भी रखोहीगे।]

अलंकार —सम (पहला), काव्यलिंग (कुटिलता न तजूँगा, इसका समर्थन उत्तरार्ध से है)

१—कुवत = (कु + वत) कुवाता, बुरी बात, बुराई, निंदा।

* पा० चित।

२—त्रिभंगी = तीन जगह से टेढ़ा। चरण, कटि और ग्रीवा को तिर्छा करके खड़े होने से त्रिभंगी होता है।

अर्थ—हे रघुराई (श्रीरामचन्द्र), (कहो तो तुम) किस दीन (जन) के बन्धु हुए (जो दीनबन्धु कहलाये जा रहे हो) (और) किस (पतित जन) को तारे (मुक्त किये) (जो पतिततारण के नाम से प्रसिद्ध हो) (मेरा तो ऐसा विचार है कि जब तक मुझ दीन तथा महापतित के बन्धु और तारक न बनो तब तक तो तुम) झूठी प्रशंसा कहलाकर प्रसन्न हुए फिरते हो (क्योंकि वास्तव में दीन अथवा पतित मैं हूँ—जिनको तुमने अब तक तारा है वे सब मुझसे अधिक पुण्यात्मा थे)

अलङ्कार—काकुवक्रोक्ति, वीप्सा

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी मुरारि[1]।
बीधे मोसौ आइ[2] कै गीधे गीधहि तारि ॥२१७॥

अर्थ—हे मुरारि अब देखना है (कि आपकी बड़ाई कैसे रहती है) (अर्थात् पतिततारण का नाम आप कैसे निबाहते हैं), गीध (जटायु) को तार कर गीधे (बच्चे हुए) मुझसे आकर बीधे (फँसे,-उलझे) हो (अर्थात् एक गीध को तार दिये तो तारनेवाले बन गये—अब मुझसे काम पड़ा है देखें यह बड़ाई कैसे चलती है) ["हरि हौं सब पतितन पतितेस " सूरदास]

अलङ्कार—अनुप्रास, यमक।

ज्यौं ह्वै हौं त्यौं होउँगो हौं हरि अपनी चाल।
हठु न करौ अति कठिनु है मो तारिबौ गुपाल ॥२१८॥

अर्थ—हे हरि (श्रीकृष्ण) मैं अपनी चाल से जैसा हूँगा वैसा (तो) हूँगा (ही) (अर्थात् मेरे नीच कर्मों का फल जो कुछ

१—मुरारि = कृष्ण (मुर + अरि, मुर नामक राक्षस का शत्रु, कृष्ण)
२—पा० आन।

अर्थ —हे गोपीनाथ (श्रीकृष्ण) मेरे गुण अवगुण समूहों को मत गनिए (क्योंकि मैं तो पतितों में से हूँ। मेरे अवगुण तो अधिक हैहीं। अत) वही चित कीजिए (उसी पर ध्यान दीजिए) जिससे पतितों के समूह तरे हैं (अर्थात् पतितों को जिस बात पर तारा उसी बात का ध्यान मेरे साथ भी कीजिए) [गोपीनाथ इसलिए कहा कि गोपियों की सब बुराइयां भूलकर केवल उनकी भक्ति ही पर श्रीकृष्ण रीझे थे]

अलंकार —काव्यलिङ्ग (मेरे गुण अवगुण गनो इसका समर्थन पूर्वार्ध से है), अनुप्रास।

मोहूँ दीजै मोषु ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौं बाँधै ही तोषु तौ बाँधौ अपनैं गुननु ॥२२२॥

अर्थ —(हे पतितोद्धारण) मुझे भी मोक्ष दीजिए जैसे बहुत से अधमों को दिया (और नहीं तो यदि) बाँधने ही में तोष (सतोष, प्रसन्नता) हो तो अपने गुणों से बाँधो (अर्थात् या तो बंधन से मुक्त कर दो या नहीं तो अपने गुणों के बंधन में रक्खो। अर्थात् मुझे अपने सगुणरूप का उपासक बनाओ जिससे मैं आपके गुणों ही में लगा रहूँ। बाँधने के साथ गुन का जिसका अर्थ डोरा भी होता है कैसा अच्छा प्रयोग किया है)।

अलकार —आक्षेप, श्लेष (बाँधना, गुन)

निज करनी सकुचेहिं कत सकुचावत इहिं चाल।
मोहूँ से नित* विमुख त्यौं सनमुख रहि गोपाल ॥२२३॥

अर्थ —हे गोपाल (श्रीकृष्णजी) अपनी करनी (कर्मों) पर सकुचे हुए (मुझ लज्जित व्यक्ति को) इस चाल (कृपा या स्नेह)

* पा० अति।

मोहिं तुम्है बाढी बहस को जीतै जदुराज ।
अपनै अपनै विरद[1] की दुहूँ निबाहन लाज ॥२२०॥

अर्थ—हे जदुराज (यदुवंशियों के स्वामी) मुझसे तुमसे बहस बढ़ गई (तकरार हो गई, अब देखना है) कौन जीतता है (हम) दोनों ही को अपने अपने विरद की लाज निबाहनी है (अर्थात् मेरा नाम है पतित मैं इस नाम की लाज रखूँगा—पतित होता तथा पाप करता चला चलूँगा—और आपका नाम है पतिततारन। आप भी इस नाम की लज्जा रखने के लिए मुझे तारने ही का उपाय करेंगे। बस इसी में देखना है—मैं पाप करने से थकता हूँ अथवा आप तारना कठिन समझ के अपना नाम छोड़ देते हैं) [राजा कहने का यह प्रयोजन है कि राजा लोग ऐसी झड़की में बहुधा आ जाया करते हैं] [सूरदास—"मोहि प्रभु तुम सौं होड परी अपने विरद सँभारहु गे तब था मैं सब निबरी" "अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हे विरद बिनु करिहौं"]

अलंकार—सम (पहला)

कीजै चित सोई तरे* जिहिं† पतितनु के साथ ।
मेरे गुन औगुन‡ गननु गनौ न गोपीनाथ ॥२२१॥

१—विरद = विरद से, दे० दो० सं० १८१,२१६,

* पा० तरौं।

† पा० जिन ।

‡ गुण अवगुण की गणना होने पर कैसे काम चल सकता है । यहाँ तो कृपा की आशा है न कि कर्मफल निर्णय की । कवि ने कहा भी है,

"हौं उलिये मलिये रनी नागर नंदकिसोर ।
जौ तुम नीके के लख्यौ मो करनी की ओर ॥"

तुलसीदास ने भी भरतजी से कहलवाया है
"जो करनी समुझै प्रभु मोरी, नहिं निस्तार कल्प शत कोरी"।

परिशिष्ट १

व्रजभाषा

व्रजभाषा जिसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से है पश्चिमी हिन्दी (Western Hindi) की अंतर्गत भाषाओं में सबसे मुख्य, बढ़ी चढ़ी और मधुर है। यह इटावा, मथुरा, आगरा आदि में बोली जाती है। मुख्य स्थान इसका व्रजमंडल[1] है किंतु अन्य स्थानों में भी यह भाषा प्रचलित है। इसको अंतर्वेदी भी कहते हैं अर्थात् वह भाषा जो पवित्र स्थान[2] अर्थात् यज्ञभूमि में बोली जाय। राजपूताना में इसे पिंगल कहते हैं। आस पास की भाषाओं के संसर्ग से भिन्न भिन्न स्थानों में इसको अनेक रूप से बोलते हैं। परन्तु शुद्ध व्रज भाषा मथुरा की मानी जाती है[3]।

व्रजभाषा-भाषियों की संख्या लगभग ७८,६०,००० के है। इस भाषा का माधुर्य लोकप्रसिद्ध है (दे० पृ० २०) और हिन्दी के बड़े से बड़े कवियों ने इस भाषा में पद्यरचना करके पाठकों के निमित्त सर्वदा के लिए एक बड़ा माधुर्य भंडार तैयार कर दिया

१—मथुरा वृंदावन इत्यादि जहाँ श्रीकृष्ण की लीलाएँ हुई थीं।

२—आर्य लोग समस्त भारतवर्ष को पवित्र स्थान कहा करते थे।

३—कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि मिथिला की भाषा जिसमें कविवर विद्यापति ने काव्यरचना की है, व्रजभाषा है। किंतु यह भूल है। जान पड़ता है कि उधर के व्रजी कहलानेवाले कुछ निवासियों की बोल-चाल की भाषा के नाम के कारण यह भूल उत्पन्न हो गई है

से मुझ ऐसे सदा विमुख रहनेवाले के सम्मुख-रहकर (इस पापी पर कृपा करके) (और अधिक) क्यों लज्जित कर रहे हो।

अलंकार —विषम (विमुख और सनमुख)।

हरि कीजति विनती यहै तुम सौं वार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार ॥२२४॥

अर्थ —हे हरि (विष्णु भगवान, श्रीकृष्ण, परमात्मा) तुमसे सहस्रबार यही विनती की जाती है (अर्थात् मैं सदा यही चाहता हूँ कि) जिस तिस प्रकार (जैसे हो सके वैसेही तुम्हारे) दरबार में डला-हुआ (फेंका हुआ, लुढकता पुढकता) पड़ा रहूँ। [सूरदास लिखते हैं "सूर कूर आँधरो मैं द्वार पर्‌यो गाऊँ"]

अलकार —लोकोक्ति, अनुप्रास।

राधा भव बाधा हरौ, विपति विदारहु स्याम।
सिया राम रति आपनी, देहु सुधा सुखधाम॥

के अथवा का का अर्थ भी निकलता है जैसे जानि (जान के या जानकर)।

(३) कृदंत (participial forms) व्रज में बहुत प्रयोग होते हैं। प्राचीन उर्दू और हिन्दी में भी ऐसा प्रयोग होता था जैसे तडपे हैं, आवे है,

(४) इस भाषा में स्वरों तथा अर्ध स्वरों का बाहुल्य है, इकार, उकार, ओकार, एकार सर्वत्र मिलते है। इससे भाषा में मधुरता अधिक आ जाती है। कडे व्यञ्जन छूट जाते हैं, व्रज में ओकारांत और उकारांत शब्द बहुत ही अधिक सख्या में मिलते हैं, विशेषत क्रिया के।

(५) ओकार और एकार ह्रस्व उच्चारण में उकार और इकार हो जाते हैं जैसे जो, सो का जु, सु, जेहि का जिहि, इ०।

(६) व्रज में व को बहुधा ब अथवा म उच्चारण करते हैं जैसे विन का बिन, रावन का रामन इ०।

(७) संस्कृत के उन शब्दों को जो उच्चारण में कडे लगते हैं या युक्ताक्षर होते हैं व्रज में तोड मरोड के मधुर बना देते हैं जैसे अर्थ को अरथ, युक्ति को/जुगति।

है। हिन्दी का अधिकांश पद्य-काव्य इसी भाषा में है। सूरदास, विहारीलाल, देवदत्त, मीरावाई इत्यादि सुप्रसिद्ध कवियों को इस भाषा से विशेष प्रीति थी।

इस भाषा की कुछ विशेषताएँ

(१) आकारांत पुँल्लिङ्ग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत और कभी कभी वर्तमान कृदंत ओकारांत होते हैं। जैसे झगड़ो, कैसो, सांवरो, ठाढ़ो, लख्यो इत्यादि। आ, ए, ओ, व, य और भी के स्थान में औ का प्रयोग होता है जैसे करनौ (करना), ऐसो (ऐसे), करौ (करो), औलगि (अवलगि), औतार (अवतार), कनकौ (कनक भी) इ०। भी के स्थान में ऊ का भी प्रयोग करते हैं जैसे सोऊ (सो भी) ए के स्थान में इ और व के स्थान में ऊ भी बोलते हैं।

(२) शब्दों के रूप और विभक्तियाँ भी अपनी विशेषताएं रखती हैं, घोड़ों के लिए घोड़ान वा घोड़न, आँसुओं के बदले अँसुअन इ० प्रयुक्त हैं। मैं के लिए मैं अथवा हौं, मुझको के लिए मोहिं अथवा मोकों (बहुवचन में हमहिं, हमें, हमकौं) मुझसे के लिए मोसौं अथवा मोतें, उसका के लिए वाको, ताको, तासु इत्यादि का प्रयोग होता है। इसी प्रकार क्रिया में करता हूँ के लिए करत हौं अथवा करूँ हूँ (बहुवचन में करत हैं, अथवा करें हैं), करती हूँ के लिए करति हौं अथवा करूँ हूँ (बहुवचन में करति है, करें हैं) किया के लिए कियो, कीन्हों, कर्‌यो, देखूँगा के लिए देखूँगो, देखिहौं इत्यादि बोले जाते हैं। स्मरण रहे कि व्रज में शब्द के अंत में अनुस्वार या अर्द्ध अनुस्वार अकसर बोलते हैं—ऐसे के लिए ऐसें, पड़ना के लिए पड़नौं, परे के लिए परें इत्यादि का प्रयोग होता है। और अन्तिम य को इ बोलते हैं जैसे (मोय), (मोइ) (जोय) जोइ। क्रिया के अंतिम अक्षर में ह्रस्व इ लगा देने से

अनुप्रास—शब्दालंकार—इसमें व्यंजनों की समानता होती है। स्वरों [की स]मानता आवश्यक नहीं है (दो० ६३, ८६ इ०)। इसके पाँच भेद होते [हैं—]छेकानुप्रास—जिसमें एक या अधिक अक्षर एक ही बार दोहराये जायँ [(दो]० ६०, ११० इ०)। श्रुत्यानुप्रास—जिसमें एक ही स्थान जैसे कंठ [आ]दि से उच्चरित वर्णों की समानता हो (दो० १२०)। अन्त्यानुप्रास—[जिस]में चरणों के अन्ताक्षरों की समानता होती है। लाटानुप्रास—जिसमें [शब्द] और उसके अर्थ में कोई परिवर्तन न हो किन्तु अन्वय करने से [अर्थ] बदल जाय (दो० ६१)। वृत्यानुप्रास—जिसमें उपनागरिका इत्यादि [वृ]त्तियों के अनुकूल आदि या अंत में एक वा अधिक वर्णों की समानता हो [(दो]० ३६)।

अनुमान—इसमें अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान प्रत्यक्ष वस्तु द्वारा किया [जा]ता है। यह प्रमाण का एक भेद माना जाता है (६६, १२२)।

अनुज्ञा—इस अलंकार में दोष ही में गुण मान लिया जाता है [(...]५, ६७)।

अन्योक्ति—इसमें एक कथन का अर्थ अन्य वस्तु पर भी घटित [हो]ता है (१६७, १६८, १८० इ०)।

अपह्नुति—इस अलंकार में उपमेय का निषेध कर उपमान को स्थापित [कि]या जाता है। इसमें किसी बात के छिपाने का वर्णन होता है (१६३)। [इस]के शुद्ध, हेतु (११६), भ्रांति (४६) इत्यादि ■ भेद होते हैं।

अर्थान्तरन्यास—इसमें एक बात का फिर से सिद्धांत या दृष्टांत-द्वारा [सम]र्थन किया जाता है (३६, १३२, १८१ इ०)।

अवज्ञा—इसमें एक वस्तु का दूसरी वस्तु के गुण या दोष न ग्रहण [कर]ने का वर्णन होता है (१४८)।

असंगति—इसमें कार्य और कारण में असंगति [...]३, ८१, १०६)। इसके तीन भेद होते हैं।

परिशिष्ट २

अलङ्कार

[पुस्तक मे उल्लिखित अल्कारों की संक्षिप्त परिभाषाएँ । उदाहरण के लिए कोष्ठ में संख्याएँ दी गई है जो दोहा की संख्याएँ है । अलकारो का क्रम वर्णानुसार है ।]

अतद्गुण—इस अलकार मे एक वस्तु अपने समीपवर्ती वस्तु का गुण ग्रहण नही करती (१८४)।

अतिशयोक्ति—इस अल्कार में लोक-सीमा का उल्लघन प्रधान रूप से दिखलाया जाता हे और किसी की सराहना की जाती है। इसके कई भेद है।

रूपकातिशयोक्ति—जिसमें केवल उपमान ही का वर्णन हो (१०६)।

सापह्नवातिशयोक्ति—जिसमे एक का गुण दूसरे पर आरोपित किया जाय।

भेदकातिशयोक्ति—जिसमें अत्यन्त भेद दिखलाया जाय (१३४)।

सम्बन्धातिशयोक्ति—जिसमें असबध मे सबध दिखलाया जाय, योग्य को अयोग्य या अयोग्य को योग्य बनाया जाय (२०, २६)।

अक्रमातिशयोक्ति—जिसमे कारण और कार्य साथ ही हो (१३८)।

चपलातिशयोक्ति—जिसमें कारण के शीघ्र ही पीछे कार्य हो जाय (१३८)।

अत्यतातिशयोक्ति—जिसमें कारण कार्य के अनतर हो।

मीलित—इसमें इतनी समानता दिखलाई जाती है कि भिन्नता अर्थात् भेद स्पष्ट नहीं होता (१०)।

मुद्रा—इसमें पदों के साधारण अर्थ के अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ भी निकलता है (२८)।

यथाक्रम—दे० क्रम।

यमक—यह शब्दालंकार है। इसमें वही शब्द बार बार आता है किन्तु अर्थ में भेद हो जाता है (३८, ६४ इ०)।

युक्ति—इसमें कोई क्रिया करके किसी भेद या मर्म की बात को छिपाने का वर्णन होता है (८६)।

रूपक—इसमें उपमेय में भेदरहित उपमान का आरोप किया जाता है और निषेधवाचक शब्द नहीं रक्खा जाता (११, ३७, २८ इ०)। इसके दो भेद होते हैं। तद्रूप (उपमान को उपमेय रूप कहना) और अभेद (उपमान को उपमेय का रूप ही मान लेना)।

जिस रूपक में उपमान के सब अंगों का आरोप उपमेय में किया जाता है उसे सांगरूपक कहते हैं।

जिस रूपक में एक अंतर्गत रूपक होता है जिस पर वह रूपक निर्भर हो उसे परम्परित रूपक कहते हैं।

लेश—इसमें दोष से गुण या गुण से दोष का अर्थ लेते हैं (१२५, १३६)।

परिकरांकुर—इसमें क्रिया से संबंध रखनेवाले विशेष्य का प्रयोग होता है (१४६, १६०)

परिसंख्या—इसमें किसी वस्तु वा गुण इत्यादि को और जगहों से हटा कर एक जगह मे मानते हैं (२१)।

पर्यायोक्ति—दो प्रकार की होती है। (२) वचनचातुरी से कोई बात घुमा फिरा कर कही जाती है। (२) किसी अच्छे बहाने से वांछित कार्य की सिद्धि की जाती है (१६, ८८, ११२ इ०)।

पूवरूप—दो प्रकार का होता है। (१) कोई वस्तु अपने समीपवर्ती का गुण ग्रहण करके फिर छोड देती है और अपना पहला रूप धारण कर लेती है। (२) समीपवर्ती का गुण न लेने का कारण आ जाने से भी पहले का ग्रहण किया हुआ गुण दूर नहीं होता (१४)।

प्रतिवस्तूपमा—इसमें उपमेय उपमान के दो अलग अलग वाक्य होते है जिनका धर्म एक ही होता है (३३, १२६, १६६)।

प्रतीप—इस में उपमान ही को उपमेय के समान कहते है। उपमेय को उपमान के समान कहने की रीति उल्ट दी जाती है। अथवा उपमेय-द्वारा उपमान का तिरस्कार वर्णन करते है (१२१)। प्रतीप के पाच भेद होते हैं। प्रथम जिसमें उपमान को उपमेय के समान कहते हैं, द्वितीय जिसमें उपमान से उपमेय का अनादर हो, तृतीय जिसमें उपमान उपमेय से अनादर पाता हो, चतुर्थ जिसमें उपमान उपमेय के समता योग्य नहीं होता (१७, ३६), पचम जिसमें उपमान को व्यर्थ ठहराया जाय।

प्रमाण—इसमें कोई सत्य कथन किया जाता है (१६८)। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण, शब्द प्रमाण, आत्म तुष्टि प्रमाण इ० आठ भेद हे।

भ्रम या भ्रांति—इसमें किसी वस्तु को भ्रम के कारण कुछ और समझने का वर्णन होता है (२७, १२२ इ०)।